प्रथम आवृत्तिः
प्रति- २५०

राजाधिराज संस्करण-३०) रु०

वीर संवत् २५०३
विक्रम सवत् २०३३

※ प्राप्तिस्थान ※

भारतीय-प्राच्यतत्त्व प्रकाशन-समिति
C/o रमणलाल लालचंद शाह
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o शा. समरथमल रायचंदजी
पिंडवाड़ा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W. R.)

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिंडवाड़ा

सङ्केतस्पष्टीकरणम् ।



अनुयो हा० टी०	अनुयोगद्वार सूत्र हारिभद्री टीका
कर्मप्र० कर्मप्र० गा०	कर्मप्रकृति गाथा
कर्मस्त० भा० गा०	कर्मस्तव भाष्य गाथा
जिनभ० सङ्ग्र० गा०	जिनभद्रीया सङ्ग्रहणी गाथा
जीवसम० गा० जीवसमा० गा०	जीवसमासप्रकरण गाथा
तत्त्वा० अ० सू० भाष्यटी०	तत्त्वार्थ अध्याय सूत्र भाष्यटीका
नन्दी पत्र	नन्दीसूत्र पत्र
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चसं० गा०	पञ्चसंग्रह गाथा
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रशम० आ०	प्रशमरतिप्रकरण आर्या
बृहत्क० भा० गा० बृ० कल्प० गा०	बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गाथा
बृ० शत० गा०	बृहत् शतक कर्मग्रन्थ गाथा
विशेषा० भा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
भ० शत० उ० भ० शत० उद्दे०	भगवती सूत्र शतक उद्देश
शत० गा०	शतक कर्मग्रन्थ गाथा
श० बृ० भा० गा शत० बृ० भा० गा०	शतक बृहद्भाष्य गाथा
सि० सिद्धहेम० सिद्ध० सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सिद्धहेम धा०	सिद्धहेम धातुपाठ

प्रास्ताविक

अनन्त उपकारी ज्ञानी भगवंतोए मानवजन्मनी जे महत्ता बतावी छे, तेनुं मुख्य कारण आ मनुष्यजन्ममां ज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनी आराधना सविशेषपणे शक्य छे.

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥" तथा 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' आदि सूत्रो द्वारा सम्यग्ज्ञाननुं महत्त्व पण शास्त्रोमां स्थाने स्थाने बताववामां आवेल छे.

जैन ग्रंथो मुख्यपणे द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग अने चरणकरणानुयोग एम चार विभागमां वहेंचायेल छे. तेमां पण दर्शनशुद्धि माटे द्रव्यानुयोग घणो ज उपकारी छे. कह्युं छे के-दविए दंसणसोही ।

द्रव्यानुयोगमां कर्मसाहित्य पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. अन्य दर्शनोमां एनुं नहिवत् स्थान छे, ज्यारे जैन दर्शनमां कर्मसाहित्य विपुल प्रमाणमां उपलब्ध छे.

जैन दर्शन सांसारिक जीव विषयक कार्यनी उत्पत्तिमां पांच कारणो स्वीकारे छे. तेमां कर्म ए पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. जीवोने संसारभ्रमण करावनार कोइ होय तो ते कर्मबन्धनां कारणो अने कर्म छे.

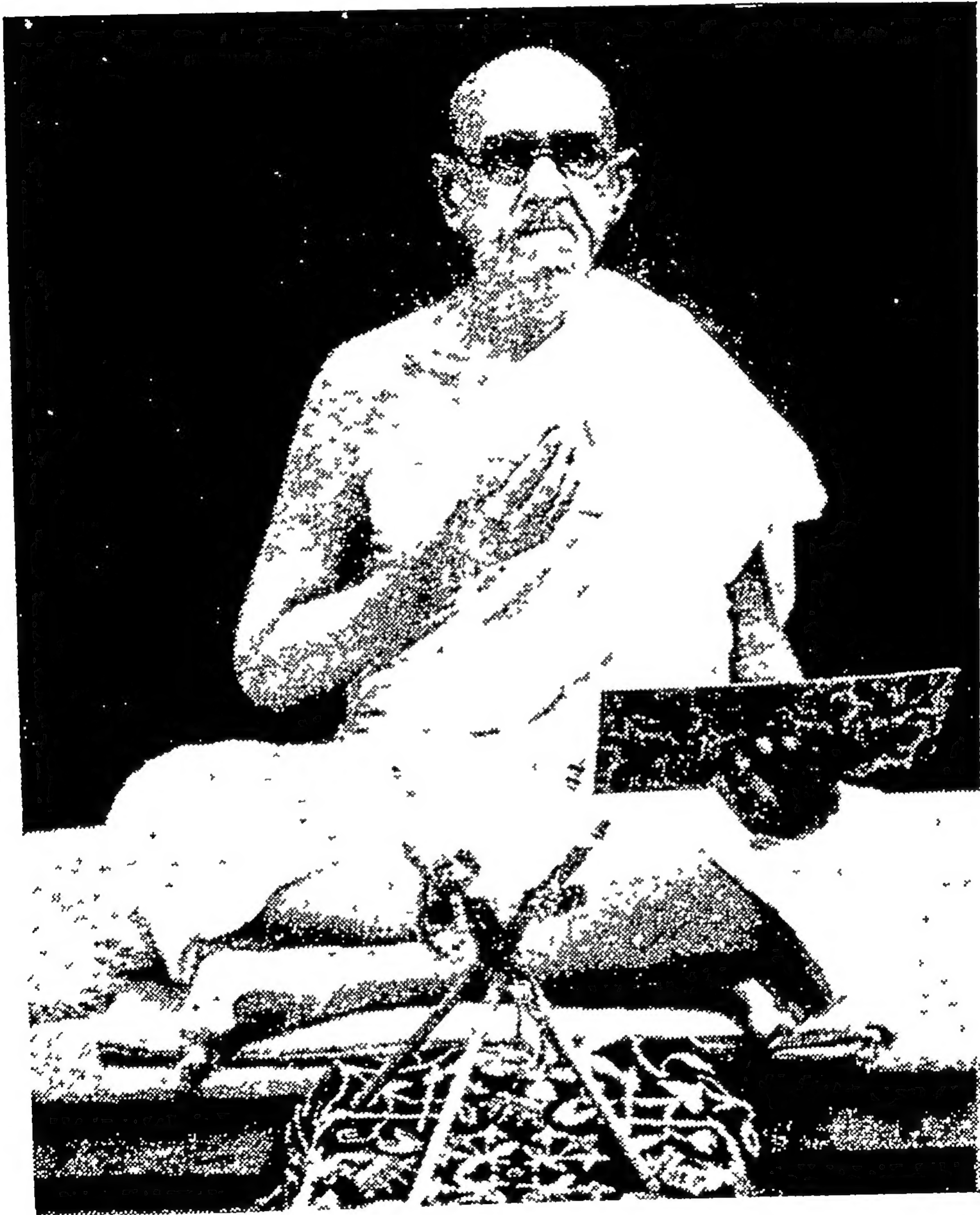
ए कर्मनुं स्वरूप समजवा माटे द्वादशांगी उपरांत सामान्य जीवो पण जाणी शके, समजी शके, ए माटे भावदयाथी भरेला पूर्वना उपकारी ज्ञानी महात्माओए तेमांथी (द्वादशांगीमांथी) नानामोटा प्रकरणो द्वारा विशाल प्रमाणमां कर्मसाहित्य रच्युं छे.

द्वादशांगीमां १२ मुं अंग दृष्टिवाद के जे हाल विच्छेद पामेल छे, तेमां कर्मसाहित्य विशाल प्रमाणमां हतुं, छतां तेना अंशरूपे पूर्वाचार्यो रचित अनेक ग्रंथो आजे पण मले छे.

आजे श्वेताम्बर संप्रदायमां कर्मप्रकृतिसंग्रहणी, बन्धशतक, पंचसंग्रह, प्राचीन छ कर्मग्रंथ, सार्द्धशतक, नव्य पांच कर्मग्रन्थ आदि अनेक ग्रंथो टीका-भाष्य-चूर्णि आदि साथे उपलब्ध छे. तेवी रीते दिगंबर संप्रदायमां पण गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार अने पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक साहित्य उपलब्ध छे.

नव्य पांच कर्मग्रंथ-विक्रमनी १३-१४ सदीमां थयेल पू. आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराज-श्रीए नव्य पांच कर्मग्रन्थनी रचना करी छे. तेनां नाम अनुक्रमे-१ कर्मविपाक, २ कर्मस्तव, ३ बन्धस्वामित्व, ४ षडशीति अने ५ शतक, आ नामो ग्रंथनो विषय

सकलागमरहस्यवेदि—सुरिपुरन्दर—बहुश्रुतगीतार्थ—परमज्योतिर्विद—परमगुरुदेव



स्व. परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

अने तेनी गाथा संख्याने लक्ष्यमां राखीने ग्रंथकारे पाडेल छे. प्रथमनां त्रण नामो ग्रंथना विषयने लक्ष्यमां राखीने अने षडशीति तथा शतक ए नाम गाथा-संख्याना आधारे पाडवामां आव्यां छे.

विषयः-१ कर्मविपाक नामना पहेला कर्मग्रंथमां ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोना भेद-प्रभेदो, तेना विपाकनु' अने तेना बन्धहेतुओनु' वर्णन करवामां आवेल छे.

२ **कर्मस्तव** नामना बीजा कर्मग्रंथमां चरमतीर्थपति श्री महावीर परमात्मानी स्तुति करवा द्वारा चौद गुणस्थानोमां बन्ध-उदय-उदीरणा अने सत्तामां कइ कइ प्रकृतिओ होय ते अंगे निरूपण करवामां आवेल छे.

३ **बन्धस्वामित्व** नामना त्रीजा कर्मग्रंथमां चौद मूलमार्गणा अने तेना उत्तरमार्गणा-स्थानोमां गुणस्थान उपर बन्धस्वामित्वनो विचार करवामां आवेल छे.

४ **षडशीति** नामना चोथा कर्मग्रंथमां जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव अने संख्यातानु' स्वरूप ए पांच विभाग पाडीने विस्तृत वर्णन करवामां आवेल छे. आ पांच विभाग पैकी प्रथमना त्रण विभागमां बीजा विषयो पण वर्णववामां आव्या छे. (१) **जीवस्थान** उपर गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा, अने सत्ता ओ आठ विषय (२) **मार्गणास्थान** उपर जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या अने अल्पबहुत्व ओ छ विषय (३) **गुणस्थान** उपर जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता तेमज अल्पबहुत्व, ए दश विषय अने ते पछी पांच भाव अने संख्याता-दिना स्वरूपनो विचार करवामां आवेल छे.

५ **शतक** नामनो पंचम कर्मग्रंथ के जे आ बीजा भागमां छे. तेमां नीचे मुजब विषयोनु' वर्णन आवे छे प्रथम कर्मग्रन्थमां बतावेली कर्मप्रकृतिओ पैकीनी कइ-कइ प्रकृतिओ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघातिनी, देशघातिनी, अघातिनी, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमानप्रकृति, अपरावर्तमानप्रकृति, क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध, ते ते बन्धना स्वामी आदिनु' वर्णन करी, अंतमां उपशमश्रेणी अने क्षपकश्रेणीनु' सविस्तर स्वरूप आपवामां आवेल छे.

६ सप्ततिका नामनो ग्रन्थ (षष्ठ कर्मग्रन्थ) जे पूर्वाचार्य प्रणीत छे तेना उपर पूज्य मलयगिरि महाराजाओ (१२ मी शताब्दिमां) भव्यवृत्ति करी छे जेमां कर्मोना मूलभेदोथी अने उत्तरभेदोथी बंध-उदय-सत्ताना संयोगोनो सामान्यथी गुणस्थानकोमां, जीवभेदोमां, मार्गणामा

(थोडोक) विचार विस्तारथी करीने आ प्ररूपणा सत्पदरुप अने स्वामित्वरुप होवाथी बाकीना द्रव्यप्रमाणादि अल्पबहुत्वसुधीना द्वारो सूक्ष्मताथी जाणवानी भलामण स्पष्ट रुपमां करी छे जेथी "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इत्यादि द्वारो कर्मविषयमां उतारवा-विचारवा भलामण करेल छे. आ ग्रंथने सूक्ष्मताथी विचारवाथी अनेक विषयोनो विस्तृत बोध थाय छे तेथी आ ग्रन्थ पण घणो उपयोगी होवाथी आजे आनु' पण पठन पाठन सारा प्रमाणमां थाय छे.

आधार-पू आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पू आ. श्री शिवशर्मसूरि म० तथा श्री चन्दर्षि महत्तर आदि जुदा जुदा पूर्वाचार्योअे कर्म-विषयक ग्रंथोनी रचना करी हती तेना आधारे पोते आ कर्मग्रंथोनी रचना करी छे. तेथी ते नव्य कर्मग्रंथ तरीके ओलखवामां आवे छे

नव्य कर्मग्रंथोनी टीकाः-पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पोताना नव्य कर्मग्रंथो उपर स्वोपज्ञ टीका रची हती, पण कोइपण कारणे हालमां तेमना त्रीजा कर्मग्रंथ उपरनी स्वोपज्ञ टीका मलती नथी, एथी तेनी पूरवणी करवा माटे कोइ पूर्वाचार्य के जेमनु' नाम टीकामां नथी तेओअे अवचूरी रूपे टीका रची छे. तेमणे अंतिम पदमां लख्यु' छे के-

एतद्ग्रन्थस्य टीकाऽभूत्, परं क्वापि न साऽऽप्यते ।
स्थानस्याशून्यताहेतो-रतोऽलेख्यवचूर्णिका ॥

टीकानी रचना शैलीः-पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नी स्वोपज्ञ टीकानी रचना एवी सुन्दर छे के मूल गाथाना कोइपण पद के वाक्यनु' विवेचन रही जवा पामेल नथी, पदार्थोने विशद रीते समजाववा माटे आगम, नियु'क्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका वगेरेनां अनेक प्रमाणो, एक एक कर्मप्रकृतिनी शी शी विशेषता छे ? तेनी सुन्दर चर्चा (जुओ प्रथम कर्मग्रंथ गा० ३२ मां 'जाति' नाम कर्मनु' शु' प्रयोजन ? ए अंगेनी चर्चा) द्रव्य इन्द्रिय अने भाव इन्द्रियनु' स्वरूप, द्रव्य मन अने भाव मन कोने कहेवाय ? एकेन्द्रियो पण भावथी पांचे य इन्द्रियोना विषयो जाणी शके (जुओ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६ नी टीका तथा प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३२ नी टीका) आदि विषयो सूक्ष्मदृष्टिए अभ्यास करनारने महत्वपूर्ण सामग्री पूरी पाडे छे.

आ टीकानी भाषा सरल, सुबोध अने हृदयंगम होवाथी रुचिपूर्वक अध्ययन करनार सरलताथी कर्मतत्त्वना विषयनो सारो ज्ञाता बनी शके छे.

ग्रंथकारनो परिचय

ग्रंथकर्ताः-स्वोपज्ञ टीकायुक्त नव्य पंच कर्मग्रंथना कर्ता पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराज बृहत्तपागच्छीय आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्रीना शिष्य छे.

आ हकीकत कर्मग्रंथनी **प्रशस्ति** तथा **गुर्वावली** तेमज **गुरुगुणरत्नाकरकाव्य** आदि ग्रंथो उपरथी जाणी शकाय छे. गुर्वावलीमां तेओश्रीना स्वर्गवासनो समय वि० सं० १३२७ जणाव्यो छे. ए उपरथी तेओश्रीनो समय विक्रमनी १३-१४ सदीनो गणी शकाय.

श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिजी महाराजश्रीने 'तपा' नु' बिरूद मल्या बाद श्री देवेन्द्रसूरिजी तथा श्री विजयचंद्रसूरिजीने सूरिपद समर्पण कर्यानु' वर्णन गुर्वावलीमां आवे छे. आ उपरथी अनुमान थाय छे के-सं० १२८५ पछी तेओश्रीने कोइपण समये सूरिपद आपवामां आवेल हशे.

जन्म स्थान आदि:-तेओश्रीना जन्मस्थान, जाति, माता-पिता आदिनी प्रमाणभूत हकीकत जाणवा मलती नथी. मात्र गुर्वावली आदिना आधारे तेओश्रीनो विहार मालवा तथा गुजरातमांज मोटे भागे थयो छे. तेथी तेओश्रीनी जन्मभूमि गुजरात के मालवा होवानो संभव छे.

विद्वत्ता:-तेओश्रीनी विद्वत्ता अजोड हती, तेमणे रचेल प्राकृत अने संस्कृत भाषाना ग्रंथो जोतां तेओ असाधारण प्रतिभाशाली, जैनसिद्धांत तथा दर्शनशास्त्रना पारंगत विद्वान हता. तेनी साक्षी तेओश्रीअे निर्माण करेल ग्रंथो पूरी पाडे छे.

तेओश्री अद्भुत व्याख्यानशक्ति धरावता हता. तेथी तेमना धर्मोपदेशने प्रतिभासंपन्न **वस्तुपाल** जेवा मंत्रिओ अने अनेक ब्राह्मणपंडितो घणा ज रसपूर्वक श्रवण करता हता. अे बाबतनो उल्लेख **गुर्वावली** मां मले छे.

गुरुः-तेओश्रीना गुरु वृद्धगच्छीय आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरि म० हता. तेओश्रीए गच्छमां आवेली शिथिलता दूर करवा चैत्रवालगच्छीय श्री देवभद्र उपाध्यायनी मददथी क्रियोद्धार कर्यो हतो. शरुआतमां छ विगइनो त्याग करी जींदगी सुधी आयंबिल तप करवानो निर्णय कर्यो, आ प्रमाणे आयंबिल तपनी तपश्चर्या करतां बार वर्ष व्यतीत थतां तेमने तपा ए बिरुद मल्यु' हतु'. अने त्यारथी वृद्धगच्छ ए नामने बदले **तपागच्छ** नाम प्रवर्त्यु'. **वस्तुपाल** वगेरेए ते महापुरुषनी सत्कार-सन्मानरूप पूजा करी हती, तेमज तेमणे मेवाडनी राजधानी आघाटमां ३२ दिगंबर वादीओनी साथे वाद कर्यो हतो; तेमां तेओ हीरानी जेम अभेद्य रहेवाथी चित्तोडना महाराणाए तेमने **हीरला जगच्चंद्रसूरि** एवु' बिरुद आप्यु' हतु',

आ महापुरुषना प्रभावथी अेमना पछी आ तपागच्छमां अनेक प्रभावशाली आचार्यो वगेरे थया छे.

परिवार:-पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नो परिवार केटलो हतो, तेनो समाचार खुलासो मलतो नथी, **गुर्वावली** नो उल्लेख जोतां उपाध्याय श्री हेमकलश गणि वगेरे संविग्नपाक्षिक मुनिओ पण तेओश्रीना परिवारमां हता.

वीरधवल अने भीमसिंह नामना वे भाइओने प्रतिबोधी पोताना शिष्यो कर्यानो उल्लेख गुर्वावलीमां मले छे. तेमांना प्रथम शिष्यनुं नाम श्री **विद्यानंदसूरि** छे. तेओश्रीना बीजा शिष्य श्री **धर्मघोषसूरि** हता. तेओ पण विशुद्ध चारित्रशील अने विशिष्टप्रभावक पुरुष हता. तेओश्रीना रचेला संघाचारभाष्य अने यमक स्तुतिओ वगेरे अनेक ग्रंथो विद्यमान छे. पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिअे रचेल स्वोपज्ञ टीका युक्त नव्य पंच कर्मग्रंथ आदि ग्रंथोनुं संशोधन आ० श्री विद्यानंदसूरिजीए कर्युं हतु. ते हकीकत ते ते कर्मग्रंथने अंते आपेली प्रशस्ति उपरथी जाणी शकाय छे.

ग्रंथरचनाः—पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी महाराजश्रीए प्राकृत अने संस्कृतभाषामां बनावेला जे ग्रंथो अत्यारे जोवामां आवे छे, तेनां नाम आ प्रमाणे छे.

१ श्राद्ध-दिनकृत्यवृत्ति
२ सटीक पांच नव्यकर्मग्रंथ
३ सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ति,
४ धर्मरत्नप्रकरण बृहद्वृत्ति
५ सुदर्शनाचरित्र,
६ चैत्यवंदनादि भाष्यत्रयम्
७ वंदारुवृत्ति (वंदित्ता-सूत्रटीका)
८ सिरिउसह-वद्धमाणप्रमुखस्तव.
९ सिद्धदंडिका
१० चत्तारि-अट्ठ-दस. गाथा विवरण
११ श्री उत्तराध्ययनवृत्तिः

आ सिवाय बीजा ग्रंथो पण तेमणे रच्या होवानो संभव छे.

वर्तमान कालीन कर्मसाहित्य

जे **भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन समिति** तरफथी आ ग्रंथनुं प्रकाशन थइ रह्युं छे. ते संस्था मारफत सिद्धांत महोदधि कर्मशास्त्र निष्णात स्व० प० पू० आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेबना मार्गदर्शन नीचे तेओश्रीना शिष्य-प्रशिष्योए कर्म-साहित्यविषयक नीचे मुजब ग्रंथो तैयार कर्या छे. अने आ संस्था तरफथी ते ते ग्रंथोनुं प्रकाशन थयेल छे.

१ खवगसेढी स्वोपज्ञवृत्ति सहित	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५६९
२ ठिइबंधो (मूलप्रकृति स्थितिबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६७२
३ रसबन्धो (मूलप्रकृति रसबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६१५
४ पएसबन्धो (मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५३५
५ उत्तरपयडिरसबंधो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६८२

६	उत्तरपयडिठिइबंधो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६२०
७	उत्तरपयडिबन्धो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६२४
८	उत्तरपयडिपएसबन्धो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ४८०
९	मूलपयडिबन्धो	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५६२
१०	उत्तरपयडिपएसबन्धो (उत्तरार्द्ध)	क्राउन आठ पेजी २६८+२६८=५३६
११	बन्धविधान प्रशस्ति-(पूर्वार्ध) स्वोपज्ञवृत्ति सहित	क्राउन आठ पेजी ३२०
१२	बन्धविधान प्रशस्ति-(उत्तरार्ध) ,, ,,	,, ,, ,, ,, ३२१ थी ५८०+१८२
१३	उत्तरपयडिरसबंधो-(उत्तरार्ध)	,, ,, ,, २२८+१४=३६२

आ सिवाय पण अन्य ग्रंथोनु' निर्माण कार्य चालु छे.

परम पूज्य स्व० आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजश्रीए पोतानु' समग्र जीवन स्वाध्यायरत पसार कर्यु' छे. तेओश्री आगम आदिना सारा जाणकार होवा साथे वर्तमानकालमां कर्मशास्त्रना प्रकांड विद्वान हता. तेओश्रीए पण कर्मसाहित्य विशालप्रमाणमां रचेल छे. अेटलु' ज नहि पोतानो शिष्य-प्रशिष्यादि परिवार सदा य स्वाध्यायरत रहे ते माटे पूरती चीवट राखी हती, तेना परिणामे तेओश्रीनी प्रेरणाथी लाखो श्लोक प्रमाण कर्मसाहित्य रचायु' छे.

आ साहित्य तैयार करवा माटे प्रगट-अप्रगट कर्मसाहित्यनो तलस्पर्शी अभ्यास करी, ते ते पदार्थोनो संग्रह करी विभागवार साहित्यमर्जन करेल छे. तेमज आ ग्रंथोमां खवगसेढि ग्रंथनु' संशोधन पू० स्व० आचार्यदेवश्री **विजयोदयसूरि** महाराजाए पण अने अन्य ग्रंथोनु' संशोधन पू० स्व० आ० श्री **प्रेमसूरीश्वरजी** म० तथा स्व० पू० **जम्बूसूरीश्वरजी** म० सा० आदि कर्मशास्त्रना निपुण महात्माओए करेल छे.

आ रीते पूज्यपाद स्व. आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजश्रीए पोताना परिवारमां स्वाध्यायगंगा वहावी हती, मनःशुद्धि माटे स्वाध्याय ए मोटु' साधन छे आथी ज ज्ञानीओअे कह्यु' छे के-**सज्झायसमो णत्थि तवो**।

आ सिवाय पण आज संस्था तरफथी पूर्वधर वाचकवर श्री शिवशर्मसूरिकृत **बन्धशतक** टीप्पन तथा अवचूरि साथे, वृत्ति सहित चार प्राचीन कर्मग्रंथ टीप्पन सहित सप्ततिका नामे छट्ठो कर्मग्रंथ अने सूक्ष्मार्थ विचार सार प्रकरण आदि कर्मसाहित्यने लगतां उत्तम प्रकाशनो बहार पड्यां छे.

पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि रचित **सटीक चार कर्मग्रंथो** तथा आ ग्रंथ श्री जैन आत्मानंद सभा तरफथी वि. सं. १९९० मां बहार पडेल, तेनु' शुद्ध संपादन पू. प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी

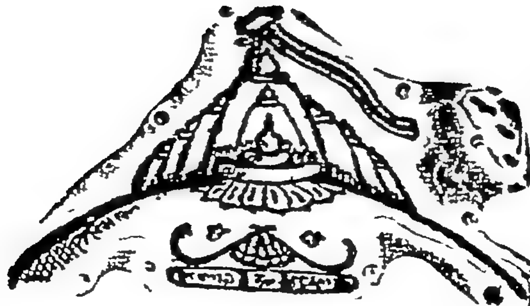
म० श्री ना शिष्यरत्न पू० मुनिराजश्री चतुरविजयजी म० श्रीए घणी महेनतपूर्वक करेल, पण ते हाल अप्राप्य होइ अने अभ्यासमां घणुं ज जरुरीयात वालु होवाथी-आ संस्था तरफथी पुनर्मुद्रण थइ रहेल छे, ते अभ्यासकवर्गने घणुं ज उपयोगी निवडशे.

परम पूज्य आचार्यदेवश्री भुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. ना प्रशिष्यरत्न प० पू० मुनिराजश्री जयघोषविजयजी महाराजश्री नी सूचनाथी पं. श्री रतिलाल चीमनलाल दोशी ए प्रस्तावना लखवा प्रेरणा करी मने आ स्वाध्यायमां सहभागी बनावेल छे ते माटे तेओश्रीनो अंतःकरणपूर्वक आभार मानुं छुं.

अंते सर्व कोइ आ ग्रंथनो सूक्ष्मता पूर्वक अभ्यास करी, कर्मना स्वरूपने जाणी, कर्मबंधना कारणोथी दूर रही, संवर-निर्जरा द्वारा कर्मनो क्षय करी शाश्वतसुखना भोक्ता बने, ए ज अंतरनी अभिलाषा.

सिद्धक्षेत्र पादलिप्तपुर
वि० सं० २०३२
विजयादशमी
ता० ३-१०-७६

लिखी:-
कपूरचंद रणछोडदास वारैया
अध्यापक
श्री जैन सूक्ष्म तत्त्वबोध पाठशाला
(श्री जैन श्रेयस्कर मंडल संचालित)



કર્મસાહિત્ય ગ્રંથોના પ્રેરક, માર્ગદર્શક અને સંશોધક

સિદ્ધાન્તમહોદધિ સુવિશાલ-ગચ્છાધિપતિ કર્મશાસ્ત્રરહસ્યવેદી શાસનશિરછત્ર સ્વ પરમપૂજ્ય



આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर कहते प्रसन्नता हो रही है कि सम्प्रति काल में सर्व-जीव-हितकर परमात्म-शासन की आधार-शिला सम श्रुतज्ञान की भक्ति का लाभ प्रदान कर श्रुत-ज्ञान के धारक मुनि वृषभ हमें अत्यन्त अनुग्रहीत कर रहें हैं। प्रस्तुत प्रकाशन इसी अनुग्रह का एक अंश है। अभ्यासियों के लिए पठन-पाठन में नित्य उपयोगी यह ग्रन्थ यद्यपि नूतन प्रकाशन नहीं है तथापि पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहे हैं और नये ज्ञान भण्डारों के लिए तो दुर्लभ है, अतः ग्रन्थ को पुनर्जीवन प्राप्त हो तथा नये ज्ञान-संग्रहालयों की आवश्यकतापूर्ति हो· इसी शुभ आशय से प. पू. स्व. आचार्य-देव सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात **श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेब के पट्टप्रभावक वर्धमानतपो-निधि प. पू. आचार्यदेव **श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी** म. सा. के प्रशिष्य गीतार्थ गणिवर्यश्री **जयघोषविजयजी** म. सा. तथा शिष्यरत्न प्रतिभा-सम्पन्नगणिवर्य **श्रीधर्मजितविजयजी** म. सा. ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें प्रोत्साहित किया। उसीका यह फल आज आपके समक्ष पेश है।

ग्रन्थ की उपादेयता को शब्द-देह देना अति कठिन है फिर भी संक्षेप में कह सकते हैं कि परम-पद की साधना में साधक के जीवन में वैराग्य की जितनी आवश्यकता है उससे जरा भी कम उपादेयता इस ग्रन्थ की नहीं है। क्योंकि मोक्ष साधना का आधार वैराग्य है तथा वैराग्य का बीज कर्म-विपाकों की विषमता का चिन्तन है और यह अति गहन चिन्तन इसी प्रकार के ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही प्रायः सुशक्य है। वाचक शिरोमणि उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म० सा० विरचित ज्ञानसार ग्रन्थ के उपसंहार में "ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः" (कर्मविपाकों का चिन्तक भव-समुद्र से विरक्त होता है) श्लोकार्ध से इसी बात का संकेत प्राप्त होता है। फलित यह हुआ कि ग्रन्थ उपयोगी ही नहीं किन्तु प्राणवायु की भाँति साधक-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है।

ग्रन्थ के सम्पादक श्री हेमचन्द्राचार्य जैन पाठशाला-अहमदाबाद के अध्यापक श्री रतिभाई तथा श्री जैन धार्मिक पाठशाला पिण्डवाडा के अध्यापक श्री चम्पकभाई की सेवा प्रशंसनीय रही। प्रस्तावना लेखक श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल संचालित सूक्ष्मतत्त्वबोध पाठशाला

पालिताणा के अध्यापक श्री कपूरचन्दभाईने भी प्रास्ताविक वचन में अपने तलस्पर्शी अभ्यास का परिचय दिया है, जिसे भुलाया नही जा सकता है।

ग्रन्थ प्रकाशन में रु. ५०००)०० पांच हजार की विपुल धनराशि द्रव्य सहाय रुप संस्था को अर्पण कर अनुपम श्रुत-भक्ति का लाभ कोल्हापुर निवासी सुश्रावक इन्दुमलजी ने लिया है वह अनुमोदनीय है तथा ज्ञानोदय प्रिन्टिग प्रेस के व्यवस्थापक ब्यावर निवासी फतेहचन्दजी जैन (हाला वाले) और अन्य कर्मचारीयों का सहयोग भी अविस्मरणीय रहेगा।

और अधिक ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रतीक्षा में—

भवदीय-
शा. समरथमल रायचदजी (मंत्री)
शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री)
भारतीय प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति

(i) पिंडवाड़ा
स्टे. सिरोहीरोड (राजस्थान)
(ii) १३५/१३७ जौहरी बाजार
बम्बई-२



नव्यकर्मग्रन्थ बीजाभागना
द्रव्यसहायक



शा जितराजजी तोलाजी कालंद्री
फर्म
शा जितराजजी हिन्दुमलजी राठोड–कोल्हापुर

पांचमा कर्मग्रन्थनी विषयसूचि

छट्ठा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम।



॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्वरहस्यवेदिभ्यः ।

पूज्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितः स्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

यो विश्वविश्वभविनां भववीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादिरत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्धमानः ॥ १ ॥
अग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकः, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥
अनुयोगधरान् सर्वान् , धर्माचार्यान् मुनींस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् ॥ ३ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

नमिय जिणं धुवबंधो १ दय २ सत्ता ३ घाइ ४ पुन्न ५ परियत्ता ६ ।
सेयर १२ चउहविवागा १६, वुच्छं बंधविह २० सामी २४ य ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धिन्यादि वक्ष्य इति सम्बन्धः । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, कम् १ इत्याह—'जिनं' राग-द्वेष-मोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं वीतरागम् , परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, अनेन चाऽऽशास्त्रपरिसमाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—ध्रुवबन्धोदयादि वक्ष्ये । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीर-नीरवद् वह्नि-अयःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्ध बन्धः १ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध-सङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरण सङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ३ । बन्धश्च उदयश्च सच्च बन्धोदयसन्ति, ततो ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ता ध्रुवबन्धोदयसत्यः । "घाइ" त्ति "घातिन्यः, देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्चेत्यर्थः ४ । "पुन्न" त्ति पुण्यप्रकृतयः ५ ।

---

१ सं० २ ०त्ति सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः । छा० ०त्ति घातिन्यो देश-सर्वघातिन्यः, सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः ॥

"परियत्त" त्ति 'परिवृत्ताः' परावर्तमानाः ६। "सेयर" त्ति 'सेतराः' सप्रतिपक्षाः-विपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः। भावार्थोऽयम्—ध्रुवबन्धिन्यः १ अध्रुवबन्धिन्यः २ ध्रुवोदयाः ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्व देशघातिन्यः ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ९ पापप्रकृतयः १० परावर्तमानाः ११ अपरावर्तमानाः १२ चेति द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये।

तत्र निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुवः—अवश्यम्भावी बन्धो भवति ता ध्रुवबन्धिन्यः १। यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्यः २। यदवादि—

[1]नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ॥ (पञ्चसं० गा० १५३)

निजहेतवश्चेह मिथ्यात्वादयो मन्तव्याः। यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्ततः स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदुदयस्ता ध्रुवोदयाः ३। यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविधद्रव्य क्षेत्र-काल-भव-भावस्वरूपं पञ्चविधं हेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाः ४। यदभाणि—

[2]अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाणं पयडीण ता धुवोदइया।
वुच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदया ताओ॥ (पञ्चसं० गा० १५५)

याः सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताकाः ५। यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताकाः ६। सर्वेतरघातित्वं च प्रकृतीनां स्वविषयघातनभेदतो भवति। तत्र सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः, स्वविषयदेशघातिन्यश्च देशघातिन्यः। स्वविषयं चासामुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। ततः सर्वं—समस्तं देशं च—कञ्चन स्वावार्यं गुणं घ्नन्तीत्येवंशीलाः सर्व-देशघातिन्यः ७। ज्ञान दर्शनादिगुणानां मध्ये न कञ्चिद् गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला अघातिन्यः। केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति। यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवराः—

[3]अवसेसा पयडीओ, अघाइया घाइयाहिं पलिभागो। (शत० गा० ८०)

"पलिभागु" त्ति सादृश्यम्। घातत्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् ८। पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनिकाः शुभा उच्यन्ते ९। पापप्रकृतयः कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते १०। याः प्रकृतयोऽन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा विनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ताः

---

१ निजहेतुसम्भवेऽपि हि भजनीयो यासां भवति प्रकृतीनाम्। बन्धस्ता अध्रुवा ध्रुवाः अभजनीयबन्धाः॥
२ अव्युच्छिन्न उदयो यासां प्रकृतीनां ता ध्रुवोदया, व्युच्छिन्नोऽपि हि सम्भवति यासां अध्रुवोदयास्ताः॥
३ अवशेषाः प्रकृतयोऽघातिन्यो घातिनीभिः परिभागः॥

परावर्तमानाः ११ । यास्त्वन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वाऽनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ता न परावर्तन्त इति कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते १२ । यत् प्रत्यपादि—

[1]विणिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं व अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारंती अपरियत्ता ॥ (पञ्चसं० गा० १६१)

"चउहविवाग" त्ति चतुर्धा--क्षेत्र-जीव-भव-पुद्गलाश्रितत्वेन चतुःप्रकारो विपाकः-विपचनं स्वशक्तिप्रदर्शनं यासां ताश्चतुर्धाविपाकाः—क्षेत्रविपाकाः १ जीवविपाकाः २ भवविपाकाः ३ पुद्गलविपाकाः ४ प्रकृतीर्वक्ष्ये । तथा "बंधविह" त्ति विधानानि विधाः—भेदाः, बन्धस्य विधा बन्धविधाः—प्रकृतिबन्ध १ स्थितिबन्ध २ रसबन्ध ३ प्रदेशबन्ध ४ लक्षणा[2]स्तान् वक्ष्ये । अत्र च मोदकदृष्टान्तं पूर्वसूरयो व्यावर्णयन्ति, यथा—वातापहारिद्रव्यनिचयनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमपहरति, पित्तापहद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम्, श्लेष्मापहद्रव्यसञ्जनितः श्लेष्माणम् इत्यादि; स्थित्या तु स एव कश्चिद् दिनमेकमवतिष्ठते, अपरस्तु दिनद्वयम्, अन्यस्तु दिवसत्रयम्, यावद् मासादिकमपि कालं कश्चिदवतिष्ठते, ततः परं विनश्यति २; स एवाऽनुभावेन—रसपर्यायेण स्निग्ध-मधुरत्वादिलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः, अपरस्तु द्विगुणानुभावः, अन्यस्तु त्रिगुणानुभावः ३ इत्यादि; प्रदेशाः कणिक्कादिद्रव्यप्रमाणरूपास्तैः प्रदेशैः स एव कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः, अपरस्तु प्रसृतिद्वयमानः, अन्यः पुनः प्रसृतित्रयप्रमाणः ४ इत्यादि । एवं कर्मापि ज्ञानावरणादिपुद्गलैर्निर्वृत्तं प्रकृत्या किञ्चिद् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शनं, किञ्चित्तु सुख-दुःखे जनयति १ इत्यादि; स्थित्या तु तदेव त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालावस्थायि भवति २; अनुभावतस्तु तदेव एकस्थानिक-द्विस्थानिक-तीव्र-मन्दादिकरसयुक्तम् ३; प्रदेशतस्तु तदेवाल्प बहुप्रदेशनिष्पन्नं स्याद् ४ इति । एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोऽपि कर्मण उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विधः सिद्धो भवति । तथा डमरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते, बन्धस्वामिनो वक्ष्ये, कः कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा कः कस्य रसस्य तीव्र-मन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धकः ? इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये । चशब्दाद् उपशमश्रेणि क्षपकश्रेण्यादिकं [च] वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह । सम्बन्ध प्रयोजने तु सामर्थ्यगम्ये । तत्र सम्बन्धः साध्य-साधनलक्षण उपाय-उपेयलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा वेदितव्यः । प्रयोजनं तु प्रकरणकर्तृ-श्रोत्रोरनन्तर-परम्परभेदेन द्वेधा । तत्र प्रकरणकर्तुरनन्तरं सत्त्वानुग्रहः प्रयोजनम्, श्रोतुश्चानन्तरं प्रयोजनं प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परप्रयोजनं तु द्वयोरपि परमपदप्राप्तिरिति । तथा चोक्तम्—

---

१ विनिवार्य या गच्छन्ति बन्धमुदयं वा अन्यप्रकृतेः । सा हि परावर्त्तमाना अनिवारयन्ती अपरिवृत्ता ॥
२ सं० २ ०स्ता व० ॥

सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः ।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥

तदेतेन मङ्गलाद्यभिधानेन सकलशास्त्रकृतां प्रवृत्तिरनुसृता भवति । तथा च तैः प्रणिजगदे–

प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमभिधेय-प्रयोजने ।
मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ इति । ॥ १ ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह–

वन्नचउतेयकम्मा ऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाद् लिङ्ग-वचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः "सगचत्त" त्ति सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्या भवन्ति । तथाहि– वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कं–वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शनलक्षणम् , ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादिद्वन्द्वे वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-कुत्साः । कुत्सा-जुगुप्सा । तथा मिथ्यात्वं च कषायाश्चावरणानि च मिथ्यात्व-कषाया-ऽऽवरणानि । तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः, भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश, विघ्नम्–अन्तरायं दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमिति । एवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यः, निजहेतुसद्भावेऽवश्यं बन्धसद्भावादिति ॥२॥

उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह—

तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥३॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥

तनवः–शरीराणि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः, तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात्, उपाङ्गानि-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीणि, आकृतयः-संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डाख्याः षट् , संहननानि–अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट् , जातयः-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च, गतयः–देव-मनुष्य-

तिर्यङ्-नारकगतिलक्षणाश्चतस्रः, खगतिः-विहायोगतिः-प्रशस्ता ऽप्रशस्तभेदाद् द्वेधा, "पुव्वि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आनुपूर्व्यः-देवानुपूर्वी-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-नरकानुपूर्वी-रूपाश्चतस्रः, जिननाम-तीर्थकरनाम, श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः, उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम "तसवीस" त्ति त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः-त्रसदशकं स्थावेरदशकमित्यर्थः, गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा, वेदनीयं-सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा, हास्यादियुगलद्विकं-हास्य-रति-अरति-शोकाभिधम् , वेदाः-स्त्री पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः, आयूंषि देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इति। एतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयः 'अध्रुवबन्धाः' अध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः । एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम् । तथाहि-पराघात-उच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्ना अतोऽध्रु[1]वत्वम् । आतपं पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव नान्यदा । उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते । आहारकद्विक जिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयम सम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम् । शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां षट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वाद् निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव । उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदया-ऽध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान् बन्धमाश्रित्य उदयमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह-"भंगा अणाइसाई" इत्यादि । 'भङ्गाः' भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति । कथम् ? इत्याह-अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः । इदमुक्तं भवति-अनादि-सादिशब्दौ आदी येषां ते अनादिसादयः, प्राकृतत्वाद् आदिशब्दस्य लोपः । अनन्त-सान्तशब्दावुत्तरे-उत्तरपदे येषां ते अनन्त-सान्तोत्तराः, "ते लुग्वा" (सिद्ध० ३-२-१०८) इति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः । यदि वा भङ्गा अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति । तद्यथा-अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्तः २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तः ४ चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥

उक्ता भङ्गाः । अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥

'प्रथमद्वितीयौ' अनाद्यनन्ता-ऽनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः । तथाहि-न विद्यत आदिर्यस्याऽनादिकालात् सन्तानभावेन सततप्रवृत्तेः सोऽनादिः, अनादिश्चासौ अनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः, अयं च भङ्गको निर्माण-स्थिरा ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्क-ज्ञानपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्कलक्षणानां षड्-

---

१ छा० ०वबन्धित्वम् ॥

विंशतिप्रकृतीनां ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्यः, यतोऽभव्यानां ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद् भविष्यतीति १ । तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्तः, तत्र ज्ञानपञ्चका-ऽन्तराय-पञ्चक-दर्शनचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनाऽनादिः सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गकः, निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कलक्षणानां द्वादशानामपि नामध्रुवोदयप्रकृतीनां सततोदयेनाऽनादिरुदयो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदाऽनादिसान्तभङ्गकः २ इति । ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु तृतीयवर्जं भङ्गत्रिकं १–२–४ भवति । तथाहि–यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमापन्नो न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेद[1]माप्स्यति सोऽनाद्यनन्तोऽभव्यानामेव भवति १; यस्त्वनादिकालात् सततप्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादिसान्तः, अयं भव्यानाम् २; साद्यनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गकः शून्य एव, न हि यो बन्धः सादिर्भवति स कदाचिदनन्तः सम्भवतीति तृतीयभङ्गवर्जनम् ३; यः पुनः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पुनर्बन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽयं सादिसान्तः ४ इत्येवंस्वरूपं साद्यनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गकवर्जितं भङ्गकत्रयं ध्रुवबन्धिनीषु भवति । सूत्रे च पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् ,प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचार्यपि, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" इति । तत्र प्रथमभङ्गस्ता(स्त्वा)सां सर्वासामप्यभव्याश्रितः सुप्रतीत एव, ध्रुवबन्धिनीः प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वाद् १ इति । द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनानादिः सन् सूक्ष्मसम्परायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति २ । आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्य आयुःक्षयेणाऽद्धाक्षयेण वा प्रतिपतितः सन् पुनर्बन्धेन सादिबन्धं विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धविच्छेदं विधत्ते तदा सादिसान्तलक्षणः [चतुर्थो भङ्गकः]। चतुर्दशानां च प्रकृतीनां तृतीयो भङ्गको न लभ्यते ३ इति । संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवावासानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतयाऽनिवृत्तिबादरादिर्बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयभङ्गः । यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धेन संज्वलनबन्धं सादिं कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभावं प्राप्तः सन् तान् न भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूपः संज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्रा-प्रचला-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माण भय-जुगुप्सास्वरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादनादिबन्धं विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धायां यथास्थानं बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयो भङ्गकः ।

१ सं० १–२ ०माप्स्यते ॥

यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावद् अनादिः ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात् सान्त इति द्वितीयभङ्गः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः । अप्रत्याख्यानावरणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टिं यावद् अनादिबन्धं कृत्वा यदा देशविरतादावबन्धको भवति तदा द्वितीयः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बद्ध्वा पुनस्तेषां यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बद्ध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति बन्धं न विधत्ते तदा चतुर्थ इति । एवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयं निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गा अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ सादिसान्त-३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानाम्, यतस्तेषां न कदाचिद् मिथ्यात्वोदय-विच्छेदः समपादि सम्पत्स्यते चेति १ । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेः, तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् २ । सादिसान्तः पुनः प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सम्पन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभाद् मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवति ३ इति । "दुहा वि अधुवा तुरियभंग" त्ति 'द्विधापि' द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्य च 'अध्रुवाः' अध्रुव-बन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थः तुरीयः-चतुर्थो भङ्गः सादिसान्तलक्षणो यासां तास्तुरीयभङ्गा भवन्ति । तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसङ्ख्यप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षण एक एव भङ्गको भवति । तथा अध्रुवोदयानामुदयः सह आदिना-उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवन-स्वभावेन वर्तत इति सादिः, स चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात् सपर्यवसानश्च सादिसान्तः । ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गको भवति नान्यः, अध्रुवत्वादेवेति भावः ॥५॥

उक्ताः सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः । प्रसङ्गतो ध्रुवा-ऽध्रुवोदयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च । सम्प्रति ध्रुवा-ऽध्रुवोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह—

निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

"निमिण" त्ति प्राकृतत्वाद् निर्माणं स्थिरा-ऽस्थिरम् "अगुरुय" त्ति अगुरुलघु शुभा-ऽशुभं तैजसं कार्मणं 'चतुर्वर्णं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदयाः ज्ञानावरण-पञ्चकम् अन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयः 'ध्रुवोदयाः' नित्योदयाः, सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति ॥६॥

अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः । इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह—

थिरसुभियर विणु अद्धुववंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इतरशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'स्थिरेतर शुभेतर-प्रकृतिचतुष्कं विना' स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसङ्ख्या अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । तथाहि—तैजस-कार्मणवर्जं शरीरत्रिकम् अङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकम् आनुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतम् आतपं पराघातं त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-स्थावर--सूक्ष्मा ऽपर्याप्तक साधारण--दुर्भग-दुःस्वर-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं साता-ऽसातवेदनीयं हास्य रती अरति-शोकौ स्त्री पुं-नपुंसकरूपं वेदत्रयम् आयुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश । तद्यथा—षोडश कषाया भयं जुगुप्सा । निद्राः पञ्च उपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदयाः, व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते, सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावाद् ? इति, अत्रोच्यते—यासां प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽद्याप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते, अथ [च] द्रव्य-क्षेत्र-कालाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिद् नेति ता एवाध्रुवोदयाः, यथा निद्राया मिथ्यादृष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावदुदयोऽव्यवच्छिन्नो वर्तते, अथ च न सततमसौ भवतीति । मिथ्यात्वस्य तु नेदं लक्षणम्, यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति । ७॥

उक्तमध्रुवोदयप्रकृतिद्वारम् । सम्प्रति ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह—

तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं, दुजुयल सग उरल सास चऊ ॥८॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउव्विक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं योगात् त्रसविंशतिर्वर्णविंशतिश्च । तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः । तथाहि—त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशः-कीर्तिनामेति त्रसदशकम्, स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामेति स्थावरदशकम्, उभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिरियम्—कृष्ण-नील-लोहित-हरिद्र-सितवर्णभेदात् पञ्च वर्णाः, सुरभिगन्धा-ऽसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ, तिक्त-कटु-

कषाया-ऽम्ल मधुरभेदात् पञ्च रसाः, गुरु-लघु-मृदु-खर शीत उष्ण-स्निग्ध-रूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः, सर्वमीलने च वर्णविंशतिरियमुच्यते, वर्णेनोपलक्षिता विंशतिर्वर्णविंशतिरिति कृत्वा । "सगतेय-कम्म" त्ति 'तैजस-कार्मणसप्तकं' तैजसशरीर १ कार्मणशरीर २ तैजसतैजसबन्धन ३ तैजसकार्मण-बन्धन ४ कार्मणकार्मणबन्धन ५ तैजससङ्घातन ६ कार्मणसङ्घातन ७ लक्षणम् । "धुववंधि सेस" त्ति वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणस्योक्तत्वात् शेषा एकचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः । तथाहि—अगुरु-लघु-निर्माण उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकमिति । 'वेदत्रिकं' स्त्री-पुं-नपुंसकलक्षणम् । "आगिइतिग" त्ति "तणुवंगागिइसंघ-यणजाइगइखगइ" (गा० ३) इत्यादिसञ्ज्ञागाथोक्तमाकृतित्रिकं गृह्यते, तत आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षड्, जातयः पञ्च इत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते । 'वेदनीयं' साता-ऽसातभेदाद्द्विधा । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्य रति अरति शोकरूपम् । "सग-उरल" त्ति औदारिकसप्तकम्—औदारिकशरीर १ औदारिकाङ्गोपाङ्ग २ औदारिकसङ्घातन ३-औदारिकौदारिकबन्धन ४ औदारिकतैजसबन्धन ५ औदारिककार्मणबन्धन ६ औदारिकतैजस-कार्मणबन्धन ७ रूपम् । "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्कं' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप पराघाताख्यम् । "खगईतिरिदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् खगतिद्विक—प्रशस्तविहायोगति-अप्रशस्त-विहायोगतिलक्षणम्, तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपम् । "नीयं" ति नीचैर्गोत्रमिति । एतास्त्रिंशदुत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते, ध्रुवसत्ताकत्वं चासां सम्यक्त्व-लाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुद्वलनसम्भवादध्रुवसत्ताक-तैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसत्ताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसङ्ख्या सङ्गच्छते ? मैवं वोचः, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद्विसंयोगो, न सर्वजीवानाम्, अध्रुवसत्ताकता चानवाप्तोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव; यदि चोत्तरगुणप्राप्त्य-पेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यात्, नानन्तानुबन्धिनामेव, यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं मिश्रम्, 'मनुजद्विकं' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपम्, "विउविक्कार" त्ति 'वैक्रियैकादशकम्' देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसङ्घातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मण-बन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन ११ लक्षणम्, जिननाम, आयुश्चतुष्कम्, "हारसग" त्ति प्राकृतत्वाद् आकारलोपे 'आहारकसप्तकम्' आहारकशरीर १ आहारकाङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घा-तन ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजस-कार्मणबन्धनाख्यम् ७, उच्चैर्गोत्रम् इत्येता अष्टाविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका उच्यन्ते ।

अयमिह भावार्थः—सम्यक्त्वं मिश्रं वाऽभव्यानां प्रभूतभव्यानां च सत्तायां नास्ति, केषाञ्चिद-स्तीति। तथा मनुष्यद्विकं वैक्रियैकादशकम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजो-वायुकायिकजीव-मध्यगतस्योद्वर्तनाऽप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यन्ते, इतरस्य तु भवन्ति। तथा वैक्रियैकादशकम-सम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहिततद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तदन्यस्य सम्भवत्यपि। तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद् भवति कस्य-चिद् नेति। तथा देव-नारकायुषी स्थावराणाम्, तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्राणां देवानाम्, मनुजा-युष्कं पुनस्तेजो-वायु-सप्तमपृथिवीनारकाणां सर्वथैव तद्बन्धाभावात् सत्तायां न लभ्यते, अन्येषां तु सम्भवत्यपि। तथा संयमे सत्यपि आहारकसप्तकं कस्यचिद् बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात् तदभावे कस्यचित् नेति। तथोच्चैर्गोत्रमसम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहिततद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्य उद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते, इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता॥ ८-९॥

उक्तं ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम्। सम्प्रति गुणस्थानकेषु कासाञ्चित् प्रकृतीनां ध्रुवा-ऽध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह—

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १०॥

प्रथमाः—आद्यास्त्रयः—त्रिसङ्ख्या गुणाः—गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणाः तेषु प्रथमत्रिगुणेषु—मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु 'मिथ्यात्वं' मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिः 'नियमात्', निश्चयेन 'सद्' विद्यमानम्, सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः। 'अयताद्यष्टके' अविरतसम्यग्दृष्टि १ देशविरत २ प्रम[1]त्तसंयत ३ अप्रमत्तसंयत ४ अपूर्वकरण ५ अनिवृत्तिबादर ६ सूक्ष्मसम्पराय ७ उपशान्तमोह ८ लक्षणेष्वष्टसु गुणस्थानकेषु 'भाज्यं' विकल्पनीयम्, कदाचिद् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचि-न्नास्ति। तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति, उपशमिते त्वस्ति। सास्वादने 'खलु' नियमेन "सम्मं" 'सम्यक्त्वं' सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृतिः 'सद्' विद्यमानम्, सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः, यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशि-ष्टायां सास्वादनो लभ्यते, तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भावः। 'मिथ्यात्वादि-दशके' मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसङ्ख्येषु 'वा' विकल्पेन-भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याद् लभ्यते स्यान्नेति। तथाहि—मिथ्यादृष्टौ जीवेऽनादि-

---

१ छा० ०त्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽ० ॥

षड्विंशतिसत्कर्मणि उद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा, मिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने, अविरतादौ चोपशान्त-मोहान्ते क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीयं सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियया, भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

सास्वादनं च मिश्रं च सास्वादन-मिश्रे तयोः सास्वादन-मिश्रयोः, बहुत्वं च प्राकृतवशात्, यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सिद्ध० ८-३-१३०) यथा-'हत्था पाया' इत्यादौ, सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः, 'ध्रुवम्' अवश्यम्भावेन 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीयं 'सद्' इति पूर्वोक्तगाथातो डमरुकमणिन्यायादिहापि सम्बध्यते । इदमत्र हृदयम्—सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, मिश्रश्चाष्टाविंशति-सत्कर्मा विसंयोजितसम्यक्त्वः सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा, तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रसत्ताऽवश्यं लभ्यते; षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न सम्भवत्येव, मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्यां व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति । 'मिथ्यात्वादिनवसु' सास्वादन-सम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्यद्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वित्यर्थः 'भजनया' विकल्पेन मिश्रम्, स्यात् सत्तायामस्ति स्यान्नेति । किमुक्तं भवति ?—यो मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा, ये वाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहान्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः तेषु मिश्रं सत्तायां नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति । तथा 'आद्यद्विके' प्रथमगुणस्थानकयुगले-मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थः "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः प्रथमकषायाः क्रोध मान-माया-लोभाख्याः 'नियताः' अवश्यम्भावेन सत्तायामवाप्यन्ते, यतो मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति भावः । तथा 'भाज्याः' भक्तव्याः—विकल्पनीयाः 'मिश्रा-दिनवके' सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिनः, सत्तामा-श्रित्य भक्तव्या इत्यर्थः । इयमत्र भावना—विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्य-ग्मिथ्यादृष्टेः क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशतिसत्कर्मणो वाऽविरत-सम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिनः सत्तायां न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति । एतच्च शेषकर्मग्रन्था-भिप्रायेणोक्तम् । **कर्मप्रकृतौ** पुनः **श्रीशिवशर्मसूरिपादा** एवमाहुः—

[1]बीयतइएसु मीसं, नियमा ठाणनवगम्मि भइयव्वं ।
संजोयणा उ नियमा, दुसु पंचसु हुंति भइयव्वा ॥ (गा० ४२३)

---

[1] छा० ०चाविर० ॥ २ द्वितीयतृतीययोर्मिश्रं नियमात्स्थाननवके भक्तव्यम् । संयोजनास्तु नियमाद् द्वयो पञ्चसु भवन्ति भक्तव्याः ॥

पूर्वार्धं सुगममेव । उत्तरार्धस्येयमक्षरगमनिका–संयोजयन्त्यात्मनोऽनन्तकालमिति "रम्यादिभ्यः कर्तरि" (सिद्ध०५-३-१२६) इत्यनटि प्रत्यये संयोजनाः–अनन्तानुबन्धिकषायाः, 'तुः' पुनरर्थे, 'नियमात्' नियमेन 'द्वयोः' मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयोः सत्तामाश्रित्य भवन्ति, यत एताववश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति । पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु सत्तां प्रतीत्य भक्तव्याः, यद्युद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थः ॥

तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति, यतस्तदभिप्रायेण विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति ॥११॥

आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नाभयसन्ते मिच्छो, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

'आहारकसप्तकं' आहारकशरीर १ तदङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घात ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजसकार्मणबन्धन ७-लक्षणं 'वा' विकल्पेन–भजनया 'सर्वगुणे' सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानेषु, सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्, ततश्च सर्वगुणस्थानकेषु विकल्पनया सत्तां प्रतीत्य आहारकसप्तकं प्राप्यते । इदमत्र हृदयम्—योऽप्रमत्तसंयतादिः संयमप्रत्ययादाहारकसप्तकबन्धं विधाय विशुद्धिवशादुपरितनगुणस्थानकेषु समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रतिपतति तस्याहारकसप्तकं सर्वगुणस्थानकेषु सत्तायां प्राप्यते, यः पुनराहारकसप्तकं न बध्नात्येव तद्बन्धं विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वध्यारोहति तस्य जन्तोस्तत् तेषु सत्तायां नावाप्यत इति। तथा "बितिगुणे विणा तित्थं" ति कोलिकनलिकन्यायेन[1] 'सर्वगुणेषु वा' इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीय-तृतीयगुणस्थानके विना, सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थः, 'वा' विभाषया–भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां प्राप्यत इति । इदमत्र तात्पर्यम्–यदा कश्चिदविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरपूर्वकरणभागषट्कं यावत् सम्यक्त्वप्रत्ययात् तीर्थकरनामकर्म बद्ध्वा उपरितनगुणस्थानकान्यधिरोहति, कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्मा अविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा सास्वादन-मिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते, तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्र-सास्वादनभावं न प्रतिपद्यते स्वभावादेवेति तद्वर्जनम् । यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये–

[2]तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

---

१ सं० १-२ ०कनलकन्या० ॥ २ तीर्थकरेण विहीनं सप्तचत्वारिंशं शतं तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥

यः पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तद् न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु तत्सत्ता न लभ्यते, यतोऽनयोः संयम-सम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावाद् नावश्यं सत्तासम्भवः।

यदुक्तं कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहण्याम्–

आहारग तित्थगरा भज्ज त्ति।

आहारकसप्तक-तीर्थकरनाम्नी सत्तां प्रति भाज्ये इति भावः। एवमाहा[1]रकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येकं सत्तारूपेणाऽवतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति निश्चितम्। उभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाऽऽशङ्कायामाह–"नोभयसंते मिच्छो" त्ति। 'न' नैव उभयस्य–आहारकसप्तक-तीर्थकरलक्षणद्विक[2]स्य सत्त्वे–सत्तासद्भावे सति मिथ्यादृष्टिर्भवेत्। कोऽर्थः? उभयसत्तायां मिथ्यात्वं न गच्छतीति भावः। तर्हि केवलतीर्थकरनामकर्मसत्तायां कियन्तं कालं मिथ्यादृष्टिर्भवति? इत्याह—"अंतमुहुत्तं भवे तित्थे" त्ति 'अन्तर्मुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं 'भवेत्' जायेत "मिच्छो" त्ति इत्यस्यात्रापि सम्बन्धाद् मिथ्यादृष्टिः। क्व सति? इत्याह–"तित्थे" त्ति तीर्थकरनामकर्मणि सत्तायां वर्तमान इति गम्यते। इदमुक्तं भवति— यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सन् तत्रोत्पित्सुरवश्यं सम्यक्त्वं परित्यज्य तत्रोत्पद्यते, उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यायमुक्तप्रमाणः कालो लभ्यत इति॥१२॥

उक्तं सप्रतिपक्षं ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम्। अधुना सप्रतिपक्षं सर्व-देशघातिप्रकृतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा॥१३॥
संजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघा[3]ईओ अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुगवन्ना॥१४॥

केवलयुगलं–केवलज्ञान–केवलदर्शनरूपं तस्यावरणे–आच्छादके कर्मणी केवलयुगलावरणे, केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थः। 'पञ्च निद्राः' निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ रूपाः। द्वादशेति सङ्ख्या 'आदिमकषायाः' सञ्ज्वलनापेक्षया प्रथमकषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभानामेकैकशोऽनन्तानुबन्धि १ अप्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरण ३ लक्षणनामत्रयेण द्वादशधात्वम्। मिथ्यात्वमिति। अनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्यं गुणं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यो विंशतिसङ्ख्या भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्—

१ स० १-२ ०रकतीर्थ०। २ छा० ०स्य सत्ता०॥ ३ छा० म० इय॥

इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यः केवलज्ञानलक्षणो गुणः, स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते, तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात्। यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः—

[1]सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ। (नन्दीप० १९५)इति।

कथं तर्हि सर्वघातित्वम्? इति चेद् अभिधीयते—यथाऽतिबहले जलदपटले समुन्नते बहुतराया आवृतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभाऽनेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते, अथ[2]चाऽद्यापि काचित् तत्प्रभा प्रसरति—"[3]सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणं॥" (नन्दीपत्र १९५) इति वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवास्ते। यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात्।

यदुक्तं नन्द्यध्ययने—

[4]जइ पुण सो वि आवरिज्जा ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा। (पत्र १९५)

सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरानावृतदिनकरकरप्रसर इव कट-कुट्यादिभिर्मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय[5]ज्ञानावरणैराव्रियते तथापि काचिद् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात्। मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति, किं तर्हि? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति। केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोध आवार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्तभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावाद् नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणैराव्रियते, शेषो जलधरदृष्टान्तादिचर्चस्तथैव। यच्च चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति, स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति, किं तर्हि? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति। यद्येवं तर्हि केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञानविषयत्वाद्, इति चेद्[6] उच्यते—केवलालोकलाभे शेषबोधलाभान्तर्भावात्, ग्रामलाभे क्षेत्रलाभान्तर्भाववदिति। निद्रापञ्चकमपि सर्वं वस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति, यत् पुनः स्वापावस्थायामपि किञ्चित्[7] चेतयति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम्। तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वारो यथाक्रमं सम्यक्त्वं देशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं च सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः, यत् पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविर-

१ सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति॥ २ स० १-२ ०थ चा०॥ ३ सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः॥ ४ यदि पुनः सोऽपि आवृणीयात्तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात्॥ ५ सं० १-२ छा० ०याघर०॥ ६ छा० ०द् तदयुक्तम्॥ ७ स० १ छा० ०द् चिकेति॥

मणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो वाच्यः । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानरूप-सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति, यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्य-पश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति ।

भाविताः सर्वघातिन्यः । सम्प्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते—"चउनाणतिदंसणावरण" त्ति आवरणशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ज्ञानावरणचतुष्कम्—मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २-अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यायज्ञानावरण ४ लक्षणम्, दर्शनावरणत्रिकं—चक्षुर्दर्शनावरण १-अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ रूपमिति । सञ्ज्वलनाश्चत्वारः—क्रोध मान माया-लोभाः । 'नोकषायाः' हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ स्त्रीवेद ७ पुंवेद-८ नपुंसकवेद ९ स्वरूपा नव । 'विघ्नम्' अन्तरायं—दान लाभ-भोग उपभोग वीर्यान्तरायलक्षणम् । 'इति' अमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणानावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघाती-त्युच्यते, मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यद् नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमाघ्नन्तीति देशघातीनि । तथाहि—चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनविषयभूतानेवाऽर्थान् एतदुदयाद् न पश्यति, तदविषय-भूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा सञ्ज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनः, तेषां मूल उत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः—

'सव्वे वि य अईयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति ।
मूलच्छिज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ (आव॰नि॰गा॰ ११२) इति ।

दानान्तरायादीनि पञ्च अन्तरायाण्यपि देशघातीन्येव । तथाहि—दान-लाभ-भोग-उपभोगानां तावद् ग्रहण-धारणायोग्यान्येव द्रव्याणि विषयः, तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्त-भागरूपे देश एव वर्तन्ते, अतो यदुदयात् तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद् दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दान-लाभ-भोग उपभोगान्तरायाणि तावद् देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते तन्न दानान्तरायाद्युदयात्, किन्तु तेषामेव ग्रहण धारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तराय-मपि देशघात्येव, सर्ववीर्यं न घातयतीति कृत्वा । तथाहि—सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणो-

१ सर्वेऽपि चातिचाराः सञ्ज्वलनानां तूदयतो भवन्ति । मूलच्छेद्यं पुनर्भवति द्वादशानां कषायाणाम् ॥

ऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमन-कर्मदलिकग्रहण-गत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते, तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवानादौ कृत्वा यावत् क्षीणमोहस्तावद् वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद् भवतीति, केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसम्भूतं सर्वं वीर्यं भवतीति देशघातीदम्। यदि पुनः सर्वघाति स्यात् तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदावार्यं सम्यक्त्वगुणं देश-सर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभते, तथैव च तदुदयेऽपि तदावार्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत, न चैवमस्ति, तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमिति।

उक्ताः सर्व-देशघातिन्यः। सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह—"अघाई" इत्यादि। अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते। तद्यथा—"पत्तेय" त्ति प्रत्येकप्रकृतयः-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता ऽगुरुलघु-तीर्थंकर-निर्माण-उपघातरूपा अष्टौ। "तणुट्ठ" त्ति तन्वा(नु)शब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति लक्षणं तन्वष्टकम्, तत्र तनवः—औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणाः पञ्च, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, गतयश्चतस्रः, खगती द्वे, पूर्व्यः-आनुपूर्व्यश्चतस्रः, एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत्। आऊं पि चत्तारि। त्रसविंशतिः—त्रसदशक-स्थावरदशकमीलनात्। "गोयदुग" त्ति गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकम्-"गोयवेयणियं" (गा० ३) इतिगाथांशेन प्रतिपादितम्, गोत्रम्- उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयं द्विधा, तदेवं गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते। "वन्न" त्ति वर्ण-गन्धरस-स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इति। एताः प्रकृतयोऽघातिन्यः, न कञ्चन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा, केवलं सर्व-देशघातिनीभिः सह वेद्यमानास्तत्तद्दोषोऽनुभूयन्ते। अयमर्थः—सर्वघातिनीभिः सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति, देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसम्, यथा स्वयमचौरोऽपि चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवावभासते। यदभाणि—

जा[1]ण न विसओ घाइत्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो।
जायइ घाइ[2]सगासेण चोरया वेहऽचोराणं॥ (पञ्चसं० गा० १५१)॥१४॥

उक्तं सप्रतिपक्षं सर्व-देशघातिद्वारम्। सम्प्रति पुण्य-पापप्रकृतीर्विवरीषुराह—

सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिदि सुभखगई ॥१५॥

---

१ यासां न विषयो घातित्वे तासामपि सर्वघातिरसः। जायते घातिसकाशेन चौरता इवेहाचौराणाम्॥
२ पञ्चसङ्ग्रहस्वोपज्ञटीकागतगाथाया तु-०समासेण। बृहट्टीकागतगाथायां पुनः-०सगासेण॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकम्—देवगति-देवगति-देवायुर्लक्षणम्, नरत्रिकम्—नरगति-नरानुपूर्वी-नरायुर्लक्षणम्, "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रं सातं 'त्रसदशकं' त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय यशःकीर्तिलक्षणम्, तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाः पञ्च, उपाङ्गानि—औदारिकाङ्गोपाङ्ग वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि, "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् 'चतुरस्र' समचतुरस्रं "परघासग" त्ति पराघातसप्तकम्—पराघात उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योत ऽगुरुलघु-तीर्थकरनाम-निर्माणरूपम्, तिर्यगायुः 'वर्णचतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यम्, पञ्चेन्द्रियजातिः 'शुभखगतिः' प्रशस्तविहायोगतिरिति ॥१५॥

बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

सुरत्रिकप्रभृतयः शुभखगतिपर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्याः पुण्याः—शुभाः प्रकृतयः पुण्यप्रकृतय उच्यन्ते ।

उक्ताः पुण्यप्रकृतयः इदानीं पापप्रकृतीराह--"अपढमसंठाण" इत्यादि । संस्थानानि च खगतिश्च संहननानि च संस्थान-खगति-संहननानि, अप्रथमानि च-प्रथमवर्जानि तानि संस्थान-खगति संहननानि च अप्रथमसंस्थान खगति-संहननानि । तत्राप्रथमसंस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन हुण्डाख्यानि पञ्च, अप्रथमखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, अप्रथमसंहननानि—ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-च्छेदवृत्तरूपाणि पञ्च, 'तिर्यग्द्विकं' तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपम् असातं नीचैर्गोत्रम् उपघातम् "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः "विगल" त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः 'नरकत्रिकं' नरकगति नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षणं 'स्थावरदशकं' स्थावर सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिरूपं, 'वर्णचतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं "घाइपणयाल" त्ति सर्वघातिन्यो विंशतिः देशघातिन्यः पञ्चविंशतिः, उभया अपि मिलिताः सामान्येन घातिन्यः पञ्चचत्वारिंशद् भवन्ति, ताभिः सहिताः-युक्ताः पूर्वोक्ता अप्रथमसंस्थानादिका वर्णचतुष्कपर्यवसानाः सप्तत्रिंशत्सङ्ख्या द्व्यशीतयः पापप्रकृतयो भवन्ति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ द्व्यशीतय एव पापप्रकृतयो न ऊनाधिका इत्यर्थः ।

ननु द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयो भवन्ति द्व्यशीतिश्च पापप्रकृतयो मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं जातं, बन्धे तु विंशत्युत्तरमेव शतमधिक्रियते "बंधे विसुत्तरसयं" (कर्मस्त० भा० गा० १)

इति वचनात्, तत् कथं न विरोधः ? इत्याह—"दोसु वि वन्नाइगह" त्ति 'द्वयोरपि' पुण्य पापप्रकृतिराश्योः 'वर्णादिग्रहात्' वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शग्रहणान्न कश्चनापि विरोधः। अयमभिप्रायः—वर्णादयो हि पुण्यस्वभावाः पापस्वभावाश्च वर्तन्ते, ततः पुण्यवर्णचतुष्टयं पुण्यप्रकृतिषु मध्ये गृह्यते, पापवर्णचतुष्टयं पुनः पापप्रकृतिषु। ततः पुण्य-पापप्रकृतिराश्योर्वर्णादिचतुष्कं यत् तदेकमेव सत् प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्ष्यत इत्यदोषः। तथा एता एव पुण्यप्रकृतयः शुभकारणजन्यत्वात् शुभा उच्यन्ते, पापप्रकृतयस्त्वशुभकारणजन्यत्वादशुभा अभिधीयन्त इति ॥१६–१७॥

उक्तं पुण्यप्रकृति-पापप्रकृतिद्वारद्वयम्। सम्प्रति परावर्तमाना ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयं व्याचिख्यासुर्द्वारगाथायां परावर्तमानप्रकृतीनां पूर्वं निर्देशेऽपि इह अल्पसङ्ख्याकत्वेन प्रथममपरावर्तमानाः प्रकृतीराह—

नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं।
भय कुच्छ मिच्छ सास, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

नाम्नो ध्रुवबन्धिनवकं नामध्रुवबन्धिनवकं–वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण उपघातलक्षणम्, दर्शनचतुष्कं–चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनरूपम्, 'पञ्च ज्ञानानि' मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानाभिधानि, काकाक्षिगोलकन्यायादत्रापि पञ्चशब्दस्य सम्बन्धात् पञ्च 'विघ्नानि' अन्तरायाणि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पराघातं भयं 'कुत्सा' जुगुप्सा मिथ्यात्वं "सासं" ति उच्छ्वासं जिननाम इत्येता एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः 'अपरिवृत्ताः' अपरावर्तमाना भवन्ति। अयमत्र भावः—या नामध्रुवबन्धिनवकप्रभृतय एकोनत्रिंशत्प्रकृतयस्ताः स्वबन्धोदयभयकालेषु नान्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा निरुध्य प्रवर्तन्तेऽतोऽपरावर्तमाना इति ॥१८॥

उक्ता अपरावर्तमानाः प्रकृतयः। साम्प्रतं परावर्तमानप्रकृतीराह—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥१९॥

तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तन्वष्टकम्। तत्र तनवस्तैजस-कार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकरूपास्तिस्रः, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, चतस्रो गतयः, खगतिद्वयम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति तन्वष्टकशब्देन त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो गृह्यन्ते। 'वेदाः' स्त्री-पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः 'द्वियुगलं' हास्य-रति-अरति-शोकरूपं, कषायाः षोडश, "उज्जोयगोयदुगं" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् उद्योतद्विकम्–"उज्जोयायव"

(गा० ३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतपाख्यम्, गोत्रद्विकम्-"गोयवेयणियं" (गा० ३) इति वचनाद् गोत्र वेदनीयस्वरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयमपि द्विधा इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते, निद्रापञ्चकं त्रसविंशतिः-त्रसदशक-स्थावरदशकरूपा, आयूंषि चत्वारि इति । एता एकनवतिप्रकृतयः "परित्त" त्ति प्राकृतत्वात् 'परिवृत्ताः' परावर्तमाना भवन्तीति शेषः । तत्र षोडश कषाया निद्रापञ्चकं च यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो ध्रुवबन्धित्वाद् बन्धं प्रति परोपरोधं न कुर्वन्ति तथापि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात् परावर्तमाना भवन्ति । स्थिर-शुभा-ऽस्थिरा-ऽशुभप्रकृतयश्चतस्रश्च यद्यप्युदयं प्रति न विरुद्धास्तथापि बन्धं प्रति परावर्तमानाः, शेषाश्च गतिचतुष्क-जातिपञ्चक-शरीरत्रिक- अङ्गोपाङ्गत्रिक-संस्थानषट्क-संहननषट्का-ऽऽनुपूर्वीचतुष्का-ऽऽतप-उद्योत-विहायोगतिद्विक-त्रसादिषोडशक-वेदत्रिक-हास्य-रति-अरति-शोकयुगलद्वय-साता ऽसात-उच्च-नीचा-ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणाः षट्षष्टिः प्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धा अतः[1] परावर्तमाना इति । उक्ताः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भणनेन च समर्थितं परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयम् । तदेवं समर्थितं "धुवबंधोदय[2]सत्ताघाइपुन्नपरियत्ता सेयर" (गा० १) इति मूलद्वारगाथोपन्यस्तं द्वारद्वादशकम् । सम्प्रति यदुक्तं "चउह विवागा वुच्छं" (गा० १) इति तद् विभणिषुः प्रथमं क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह—"खित्तविवागाणुपुव्वीओ" त्ति क्षेत्रम्-आकाशं तत्रैव विपाकः-उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः, आनुपूर्व्यश्चतस्रः नरक-तिर्यग्-नरा-ऽमरानुपूर्वीलक्षणाः, यतस्तासां चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[3]निरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
निरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा० १२२-१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदयः सङ्क्रमकरणेन विद्यते, अतः कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवद् जीवविपाकिन्यः ? इति अत्रोच्यते—विद्यमानेऽपि सङ्क्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति ॥ १९ ॥

उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः । साम्प्रतं जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतीराह----

1. छा० विना ०तः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भण० ॥ २ सं० १-२ छा० त० म० ०संगा० ॥
3 निरयायुष उदये नरके वक्रेण गच्छतः । निरयानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एवं तिर्यङ्मनुजदेवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छतः । तासामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

घनघातिन्यः प्रकृतयः सप्तचत्वारिंशत् , तद्यथा--ज्ञानावरणं पञ्चधा, दर्शनावरणं नवधा, मोहनीयमष्टाविंशतिधा, अन्तरायं पञ्चधेति । "दुगोय" त्ति "गोयवेयणियं" (गा० ३) इति वचनाद् 'गोत्रद्विकं' गोत्र-वेदनीयरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्वेधा, वेदनीयं साता ऽसातभेदेन द्विभेदमिति दुगोयशब्देन प्रकृतिचतुष्टयं गृह्यते । जीननाम, "तसियरतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् त्रसत्रिकं--त्रस-बादर पर्याप्तकरूपम् , इतरत्रिकं स्थावरत्रिकं स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तकलक्षणम् । "सुभगदुभगचउ" त्ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभग-चतुष्कं--सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिरूपम् 'दुर्भगचतुष्कं--दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशः--कीर्त्तिलक्षणम् । "सासं" त्ति उच्छ्वासं "जाइतिग" त्ति जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकं "जाइगइखगइ" (गा० ३) इति गाथावयवोक्तं जातित्रिकम् । तत्र जातयः--एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च, गतयः-सुर-नर-तिर्यग्-नरकरूपाश्चतस्रः, खगतिः-प्रशस्ता-ऽप्रशस्त-विहायोगतिभेदेन द्विधा, इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्त इति । एता अष्टा-सप्ततिप्रकृतयो जीव एव विपाकः--स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाका ज्ञातव्याः। तथाहि-पञ्चविधज्ञानावरणोदयाद् जीव एवाऽज्ञानी स्याद् न पुनः शरीर-पुद्गलादिषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति, एवं नवविधदर्शनावरणोदयाद् जीव एव अदर्शनी भवति, साता-ऽसातोदयाद् जीव एव सुखी दुःखी वा सम्पद्यते, अष्टाविंशतिविधमोहनीयोदयाद् जीव एव अदर्शनी अचारित्री वा जायते, पञ्चविधान्तरायोदयाद् जीव एव न दानादि कर्तुं पारयति, उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-गतिचतुष्क-जातिपञ्चक-विहायोगतिद्विक-जिन-त्रस-बादर-पर्याप्तक-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-सुभगचतुष्क-दुर्भगचतुष्क-उच्छ्वासनामोदयाद् जीव एव तं तं भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति । एताः सर्वा अपि जीवविपाकिन्य इति । या अपि क्षेत्रविपाका उक्ताः, याश्च भवविपाकाः पुद्गलविपाकाश्च वक्ष्यन्ते, ता अपि परमार्थतो जीवविपाका एव; यतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति, केवलं मुख्यतया क्षेत्र-भव-पुद्गलेषु तत्तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात् तत्तद्विपाका उच्यन्त इति । 'आयूंषि चत्वारि' नारकायुष्कादीनि, पुंस्त्वं च प्राकृत-वशात् , प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव, यदवादि प्रवादिसर्पदर्पसौपर्णेयैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे--"लिङ्गमतन्त्रम्" (सिद्ध० ८--४--४४५) इति । भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः--नारकादिपर्यायः, स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यः, यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम्--

"[1]नेरइए नेरइएसु उववज्जइ" (शत० ४ उद्दे० ९) इति ।

तस्मिन् भवे–नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः–उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि । तथाहि–यथासम्भवं पूर्वभवे बद्धानि आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः । ननु यथाऽऽयुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवति एवं गतीनामपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति, अत्रोच्यते–आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकदानाद् भवविपाकित्वम्, गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते । तथाहि–मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः, किन्तु जीवविपाकिन्य एवेति ॥२०॥

उक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः । इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह–

नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥२१॥

नाम्नः–नामकर्मणो ध्रुवोदयाः-नित्योदया नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः, तद्यथा–निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कमिति। "चउतणु" त्ति तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं "तणुवंगागिइसंघयण" (गा०३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कम् । तत्र तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः–औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः–संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । उपघातं साधारणम् 'इतरच्च' तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं "जोयतिगं" ति "उज्जोयायवपरघा" (गा०३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणमिति । एताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः "पुग्गलविवागि" त्ति पुद्गलेषु–शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः–उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः । तथाहि–निर्माण-स्थिराद्युदयात् शरीरतया परीणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादादीनामशुभत्वमित्यादि, तनूदयात् शरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ति, अङ्गोपाङ्गोदयाच्च तेषां शिरः-ग्रीवाद्यवयवविभागो जायते, आकृतिनामोदयात् तेष्वेवाऽऽकारविशेषः सम्पनीपद्यते, संहननोदयात् तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति, उपघात-साधारण-प्रत्येक-उद्योता-ऽऽतपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात् सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति ।

---

१ नैरयिको नैरयिकेषु उत्पद्यते ॥

उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतयः। सम्प्रति यदुक्तम् "वुच्छं बंधविह सामी य" (गा० १) इति तन्निर्वाहणार्थं बन्धविधा व्याचिख्यासुराह—"बंधो पयइठिइरसपएस" त्ति, बन्धशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः रसबन्धः प्रदेशबन्धः, 'इति' अमुना प्रकारेण बन्धश्चतुर्धा भवति। तत्र स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः। अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः। कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः। कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षं दलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः। उक्तं च—

[1]ठिइबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो॥ (पञ्चसं० गा० ४३२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः॥ ( ) इति ॥ २१॥

उक्ताः सामान्यतो बन्धभेदाः। अथ मूलप्रकृतिबन्धस्थानानि तेषु च भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्यलक्षणान् बन्धभेदविशेषान् निरूपयन्नाह—

मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥२२॥

'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्र-ऽन्तरायलक्षणानाम् अष्ट-सप्त-षड्-एकबन्धेषु त्रयो भूयस्काराः त्रयोऽल्पतराः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति, 'न हु' नैव 'अवक्तव्यः' अवक्तव्यबन्धो भवतीत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—इह मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति। तद्यथा—अष्टविधबन्धः सप्तविधबन्धः षड्विधबन्ध एकविधबन्धश्च। सर्वप्रकृतिसमुदायबन्धोऽष्टविधबन्धः। आयुर्वर्जसप्तप्रकृतिबन्धः सप्तविधबन्धः। आयुर्मोहनीयवर्जषट्प्रकृतिबन्धः षड्विधबन्धः। एकस्याः सातवेदनीयलक्षणायाः प्रकृतेर्बन्ध एकविधबन्धः। ततश्चाऽष्टविध-सप्तविध-षड्विध-एकविधबन्धेषु त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धाः, अवक्तव्यबन्धो नास्ति।

तत्र भूयस्कारादीनां स्वरूपमिदम्—तत्रैकविधाद्यल्पतरबन्धको भूत्वा यत्र पुनरपि षड्विधादिबहुबन्धको भवति स प्रथमसमये भूयस्कारबन्धः १। यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथमसमय एवाल्पतरबन्धः २। यत्र तु

---

१ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत्। तेषां रसोऽनुभागः तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः॥

प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः ३ । यत्र तु सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽवक्तव्यबन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्, तासां सर्वथाऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा प्रतिपाताभावेन पुनर्बन्धाभावात् ।

अथ कथं त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति ? इति चेद् उच्यते—इहैकविधं बद्ध्वा उपशान्तमोहावस्थातः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्पराये पुनः षड्विधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, ततोऽप्यधस्तात् प्रतिपत्य सप्तविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, आयुर्बन्धकाले त्वष्टविधबन्धं गतस्य प्रथमसमय एव तृतीयो भूयस्कारबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयो भूयस्काराः । तथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधं बद्ध्वा पुनरप्यायुर्बन्धोपरमे सप्तविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, सप्तविधादपि सूक्ष्मसम्परायावस्थायां षड्विधबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, षड्विधबन्धादप्युपशान्तमोहाद्यवस्थायामेकविधबन्धं गतस्याद्यसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयोऽल्पतरबन्धाः । तथा मूलप्रकृतिविषयाण्येकविधबन्धादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितबन्धोऽस्त्येवेति चत्वारोऽवस्थितबन्धाः । अवक्तव्यबन्धस्तु मूलप्रकृतिषु न सम्भवतीत्युक्तमेवेति ॥२२॥

अथैतदेव भूयस्कारादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

एकादिभिः—एकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे "भूय" त्ति भूयस्कारनाम बन्धो भवति । यथा—एकां बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नातीति । तथा एकादिभिः—एक-द्वि-त्र्यादिभिः प्रकृतिभिरूने-हीने बन्धे 'अल्पतरः' अल्पतरनाम बन्धो भवति । यथा—अष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् वा बद्ध्वा एकां बध्नाति । तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु 'तन्मात्रः' तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति । एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति । तथा यः सर्वथाऽबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धकः सञ्जायते तदा तस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यः सम्भवतीति । एतदेवाह—"पढमे समए अवत्तव्वो" इति स्पष्टम् । न चायं मूलप्रकृतिषु सम्भवति, न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्ध-

व्यवच्छेदे सति अयोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा भूयोऽपि बन्धः सम्भवतीति एषोऽवक्तव्यबन्ध उत्तरप्रकृतिष्वेव भवति, तं चोत्तरप्रकृतिषु यथास्थानं दर्शयिष्यामः ॥ २३ ॥

उक्ता मूलप्रकृतीरधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धाः । अधुनोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य तान् प्रचिकटयिषुराह--

नव छ च्चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

"दंसि" त्ति भामा सत्यभामेति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचार इति दर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनां त्रीणि बन्धस्थानानि। कथम्? इत्याह--"नव छ चउ" त्ति नवविधं बन्धस्थानं षड्विधं बन्धस्थानं चतुर्विधं बन्धस्थानं चेति । तत्र निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणं निद्रापञ्चकम् , चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणचतुष्टयं चेत्येतन्नवविधम् , एतच्च मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकं यावद् बध्यते । ततः परं स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं व्यवच्छिद्यते, अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादिषु षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः, एतच्च षड्विधमपूर्वकरणप्रथमसप्तभागं यावद् बध्नाति । ततः परं निद्रा-प्रचलाबन्धव्यवच्छेदे सति शेषं चतुर्विधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः, एतच्चतुर्विधं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् बध्यते । ततः कस्यचित् पुनरपि प्रतिपत्य षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । ततोऽपि प्रतिपत्य नवविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । अत्र च नवविधादिषु त्रिष्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिषु समयेषु तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्ध इति त्रयोऽवस्थितबन्धाः । यदा तूपशान्तमोहावस्थायां दर्शनावरणप्रकृतीनां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनरद्धाक्षयेणेहैव प्रतिपत्य चतुर्विधं बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भूयस्काराद्युचितलक्षणायोगाद् भूयस्कारादिभिर्विकल्पैर्वक्तुं न शक्यत इत्यवक्तव्यः, द्वितीयादिसमयेषु त्वत्राप्यवस्थितबन्धः । यदा पुनरुपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषूत्पद्यते तदा तत्र प्रथमसमय एव षड्विधं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः । तदेवमत्र द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ । अवस्थितबन्धास्तु गणनया षड् भवन्तोऽपि बन्धस्थानानि त्रीण्येवेति तद्भेदास्त्रय एव भवन्ति । अवक्तव्यबन्धौ द्वौ इति । एतदेवाह--"दु दु ति दु" त्ति द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ त्रयोऽवस्थितबन्धाः द्वावक्तव्यबन्धाविति । भावार्थः पूर्वोक्त एवेति ।

उक्ता दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धाः । इदानीमेतानेव मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु विचिन्तयन्नाह--"मोहे दुइगवीस सत्तरस" इत्यादि । 'मोहे' मोहनीयकर्मणि दश बन्धस्था-

नानि भवन्ति । तद्यथा--"दुइगवीस" त्ति विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रो द्वे एका च । उक्तं च सप्ततिकायाम्—

[1]बावीस इक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एगं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ (गा० ११)

तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, "[2]न य बंधे सम्ममीसाइं" ([3]पञ्चसं० गा० १२८) इति वचनात् । न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव । हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम् । ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः-मिथ्यात्वं १ षोडश कषायाः १६ एको वेदः १ अन्यतरयुगलं २ भयं १ जुगुप्सा १ इति । सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वबन्धाभावादेकविंशतिः । यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणगुणस्थानकेषु प्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावाद् नव । यद्यप्यरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यत इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये च बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्त इत्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्याऽभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायाभावात् तस्या अपि न बन्धः ।

उक्तानि मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि । अथैतेषु दशसु बन्धस्थानेषु भूयस्कारादीनाह—"नव अट्ठ दस दुन्नि" त्ति नव भूयस्कारबन्धाः, अष्टावल्पतरबन्धाः, दशावस्थितबन्धाः, द्वाववक्तव्यबन्धौ । इयमत्र भावना—एकविधबन्धात् प्रतिपत्य उक्तस्वरूपं द्विविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । द्विविधात् त्रिविधबन्धं गतस्य द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । त्रिविधात् चतुर्विधबन्धं गतस्य तृतीयो भूयस्कारबन्धः । चतुर्विधात् पञ्चविधबन्धं गतस्य

[1] द्वाविंशतिः-एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च । चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं बन्धस्थानानि मोहस्य ॥
[2] न च बन्धे सम्यक्त्व-मिश्रे ॥ [3] पञ्चसंग्रहे तु—"बंधे नो सम्ममीस्साइं" इति पाठः ॥

चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। पञ्चविधाद् नवविधबन्धं गतस्य पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। नवविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य षष्ठो भूयस्कारबन्धः। त्रयोदशविधात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य सप्तमो भूयस्कारबन्धः। सप्तदशविधाद् एकविंशतिविधबन्धं गतस्याष्टमो भूयस्कारबन्धः। एकविंशतिविधाद् द्वाविंशतिविधबन्धं गतस्य नवमो भूयस्कारबन्धः। अल्पतराः पुनरेवमष्टौ भवन्ति। तथाहि—द्वाविंशतिविधबन्धात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य प्रथमोऽल्पतरबन्धः। सप्तदशविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। त्रयोदशविधबन्धाद् नवविधबन्धं गतस्य तृतीयोऽल्पतरबन्धः। नवविधबन्धात् पञ्चविधबन्धं गतस्य चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविधबन्धाद् चतुर्विधबन्धं गतस्य पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। चतुर्विधबन्धात् त्रिविधबन्धं गतस्य षष्ठोऽल्पतरबन्धः। त्रिविधबन्धाद् द्विविधबन्धं गतस्य सप्तमोऽल्पतरबन्धः। द्विविधबन्धाद् एकविधबन्धं गतस्याष्टमोऽल्पतरबन्धः। ननु द्वाविंशतिबन्धादेकविंशतिगमने नवमोऽल्पतरबन्धः कस्माद् नोक्तः? इति चेत् नैवम्, असम्भवादेव, तथाहि—द्वाविंशतिं मिथ्यादृष्टिरेव बध्नाति, एकविंशतिं तु सास्वादनसम्यग्दृष्टिरेवेत्युक्तम्; न च मिथ्यादृष्टिरनन्तरभावेन सास्वादनत्वं व्रजति येन द्वाविंशतेरेकविंशतिगमनं स्यात्, किन्तु उपशमसम्यग्दृष्टिरेव सास्वादनभावं प्रतिपद्यते, तस्माद् द्वाविंशतेः सप्तदशबन्धगमनमेव भवतीत्यष्टावेवाल्पतरबन्धाः। तथा दशस्वपि मोहनीयबन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेष्ववस्थितबन्धो लभ्यत इति अवस्थितबन्धा दश। अवक्तव्यबन्धौ द्वौ पुनरेवम्—यदा हि उपशान्ते मोहनीयस्याऽबन्धको भूत्वा उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य पुनरेकं संज्वलनलोभं बध्नाति तदाऽऽद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। यदि चोपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेण मृत्वाऽनुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते तदा प्रथमसमय एव सप्तदशविधबन्धं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः। तदेवं मोहनीये नव भूयस्कारबन्धा अष्टावल्पतरबन्धा दशावस्थितबन्धा द्वाववक्तव्यबन्धाविति भावितम्। उक्तं च—

[1]नव भूअगारबन्धा, अट्ठेव हवंति अप्पतरबंधा।
दो अव्वत्तगबन्धा, अवट्ठिया दस उ मोहम्मि॥

(बृहच्छतकबृहद्भाष्यगाथा २६१) इति ॥२४॥

सम्प्रति नामकर्मप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धान् प्रतिपिपादयिषुराह—

तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं॥२५॥

---

१ नव भूयस्कारबन्धा अष्टावेव भवन्त्यल्पतरबन्धाः। द्वाववक्तव्यबन्धौ अवस्थिता दश तु मोहे॥

"नामे" त्ति नामकर्मणि बन्धस्थानान्यष्टौ भवन्ति । तद्यथा—विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका चेति । उक्तं च सप्ततिकायाम्—

तेवीस[1] पन्नवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेगं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ (गा० २५)

तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातम् इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः, सर्वैरपि चतुर्गतिकजीवैरप्राप्तविशिष्टगुणैः प्रतिसमयमवश्यं बध्यमानत्वात्; तथा तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरं बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम इत्येताश्चतुर्दश प्रकृतयो ध्रुवबन्धिनीभिर्नवभिः सह त्रयोविंशतिरिति एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । एतां च त्रयोविंशतिमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय--त्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणामन्यतरो मिथ्यादृष्टिरेवापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नाति । पञ्चविंशतिं पुनः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां तत्रोत्पादयोग्या नानाजीवा बध्नन्ति । तत्र च त्रयोविंशतिः पूर्वोक्तैव पराघात-उच्छ्वासाभ्यां सह पञ्चविंशतिर्भवति, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकं, स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तीनां परावृत्तिर्वाच्या, एवमेषा पञ्चविंशतिरन्येषामपि विकलेन्द्रियादिजीवानां प्रायोग्या नानाभङ्गैः सम्भवति, केवलं ग्रन्थविस्तरभयाद् नेहोच्यते, सप्ततिकाटीकायां तद्विस्तरोऽन्वेषणीयः । एवमुत्तरेष्वपि बन्धस्थानेषु गमनिकामात्रमेवाभिधास्यत इति । एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतयोरेकतरप्रक्षेपे षड्विंशतिर्भवति, सा च पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यैव बध्यते नान्यप्रायोग्या, बन्धकाश्च तत्रोत्पादयोग्या जीवा द्रष्टव्याः । अष्टाविंशतिं तु देवगतिप्रायोग्यां तिर्यङ्-मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा बध्नन्ति । तद्यथा—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगेकैकमन्यतरद्वाच्यं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातमित्यष्टाविंशतिर्भवति । एषा च मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरनामकर्मणो बन्धे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, तां च सम्यग्दर्शनिनो मनुष्या एव बद्धतीर्थकरनामानो देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्ति । यदि वा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याऽपीयमेकोनत्रिंशद्

---

[1] त्रयोविंशति. पञ्चविंशतिः षड्विंशति. अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । त्रिंशदेकत्रिंशदेकं बन्धस्थानानि नाम्नः ॥

वध्यते । तद्यथा—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे पण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं पण्णां संहननानामेकतमत् संहननं वर्णचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातम् पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरं सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । त्रिंशत् पुनरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तकं प्रत्येकं स्थिरं शुभं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिनाम निर्माणनामेति । इदं च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अथवा कश्चिद् बद्धतीर्थकरनामकर्मा दिवि समुत्पन्नः पुनरपि मनुष्येषु समुत्पत्स्यत इति मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं देवो बध्नाति । तद्यथा—मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रऋषभनाराचसंहननं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं तीर्थकरनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातनामेति । एकत्रिंशत् पुनरेवम्—देवगति-देवानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे च समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरं शुभं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिनाम निर्माणं तीर्थकरनामेति । तां चाऽप्रमत्तयतिः कियन्तमपि च भागं यावद् अपूर्वकरणश्च देवगतिप्रायोग्यामेव बध्नाति । एकविधबन्धं तु यशःकीर्तिस्वरूपम् अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायाः स्वरूपेणैव बध्नन्ति, न तु कस्यचित् प्रायोग्यं, देवगतिप्रायोग्यस्यापि बन्धस्यापूर्वकरणमध्ये व्यवच्छिन्नत्वात् ।

तदेवं स्वरूपतोऽष्टावप्युक्तानि नामकर्मणो बन्धस्थानानि । साम्प्रतमेतेषु प्रकृता भूयस्कारादिबन्धा भाव्यन्ते—"छस्सगअट्ठतिबंध" त्ति बन्धशब्दो भूयस्कारादिषु योजनीयः, ततो भूयस्कारबन्धाः षट्, अल्पतरबन्धाः सप्त, अवस्थितबन्धा अष्टौ, अवक्तव्यबन्धास्त्रय इति । तत्र भूयस्कारबन्धाः षडेवम्—कस्यचिद् अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां त्रयोविंशतिं बद्ध्वा तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशात् पञ्चविंशतिविधबन्धं गतस्याद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । ततोऽपि पञ्चविंशतिबन्धात् तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशतः षड्विंशतिबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । षड्विंशतिविधबन्धाद् अष्टाविंशतिबन्धं गतस्य प्रथमसमये तृतीयो भूयस्कार-

बन्धः। अष्टाविंशतिबन्धाद् एकोनत्रिंशद्बन्धं गतस्य प्रथमसमये चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। एकोनत्रिंशतं बद्ध्वा त्रिंशतं बध्नत आद्यसमये पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। आहारकद्विकसहितां त्रिंशतं बद्ध्वा एकत्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये पष्ठो भूयस्कारबन्धः, अथवा यशःकीर्तिलक्षणमेकविधं बद्ध्वा श्रेणेर्निपततः पुनरपूर्वकरणे एकत्रिंशदादि बध्नत आद्यसमये पष्ठ एव भूयस्कारबन्धः, न सप्तमः, एकत्रिंशल्लक्षणस्थानकस्योभयथाऽप्येकत्वादिति। अल्पतरबन्धाः सप्त पुनरेवम्—अपूर्वकरणे देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा त्रिंशतं वा एकत्रिंशतं वा बद्ध्वा तद्बन्धव्यवच्छेदे एकविधबन्धं गतस्याद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः। एकत्रिंशद्बन्धाच्च त्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। एतच्च कथं सम्भवति? इत्युच्यते—इह कश्चिदाहारकद्विक-तीर्थकरनामसहितां पूर्वाभिहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा दिवि समुत्पन्नः, तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेव त्रिंशतं बध्नत एकत्रिंशतस्त्रिंशति गमनं सम्भवति। ततस्तस्यैव दिवश्च्युत्वा मनुष्येषु समुत्पन्नस्य पुनरपि देवप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां पूर्वाभिहितामेवैकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः। यदा तु तिर्यग्-मनुष्याणामन्यतरस्तिर्यक्प्रायोग्यां पूर्वोक्तामेकोनत्रिंशतं बद्ध्वा तथाविधशुद्धिवशाद् देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तदा प्रथमसमये चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। अष्टाविंशतेश्च तथाविधसंक्लेशवशादेकेन्द्रियप्रायोग्यपड्विंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। पड्विंशतिबन्धात् पञ्चविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये पष्ठोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविंशतिबन्धादपि त्रयोविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये सप्तमोऽल्पतरबन्धः। एतेष्वष्टस्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेषु सर्वत्रावस्थितबन्धो लभ्यत इत्यवस्थितबन्धा अष्टौ। अथावक्तव्यकबन्धास्त्रयः पुनरेवम्—उपशान्तमोहावस्थायां नामकर्मणः सर्वथा अबन्धको भूत्वा इहैवोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य यदा पुनरप्येकविधं बध्नाति तदाद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। अथवोपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते उपात्ततीर्थकरनामा च भवति तदा तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तरूपां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्ध। अथवाऽनुपात्ततीर्थकरनामा यदा भवति तदा तस्य तीर्थकरनामरहितां तत्रैव मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽवक्तव्यबन्धः। तदेवं भाविता नामकर्मणि पड् भूयस्कारबन्धाः सप्ताल्पतरबन्धा अष्टाववस्थितबन्धाः त्रयोऽवक्तव्यबन्धाः। उक्तं च—

[1]छ ब्भूयगारबंधा, सत्तेव हवंति अप्पतरबंधा।
तिण्णऽव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया अट्ठ नामम्मि॥ (श० बृ० भा० गा० २९५)

---

१ पड् भूयस्कारबन्धाः सप्तैव भवन्त्यल्पतरबन्धाः। त्रयोऽवक्तव्यबन्धा अवस्थिता अष्टौ नाम्नि॥

उक्ता नामकर्माश्रित्य भूयस्कारादिबन्धाः । साम्प्रतं शेषकर्माण्याश्रित्य तानाह—"सेसेसु ठाणमिक्किक्कं" ति 'शेषेषु' भणितो[1]द्धरितेषु-ज्ञानावरण वेदनीया ऽऽयुः-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु 'स्थानं' बन्धस्थानमेकैकमेव भवति । तत्राद्यकर्मणि मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतिपञ्चकस्य समुदितमेकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावद् भवति, एवमन्तरायपञ्चकस्यापि वाच्यम् । वेदनीयस्याप्येकमेव बन्धस्थानं सातमसातं वा । आयुषश्चतुर्णामायुषामन्यतरैकायुष्कलक्षणमेकमेव बन्धस्थानम् । गोत्रस्य तु नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्र वा एकं बन्धस्थानम् । अत्र च सूचकत्वात् सूत्रस्यैतत् स्वयमेव द्रष्टव्यम्, यथा—अत्र कर्मपञ्चकेऽपि भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धौ न सम्भवतः, तल्लक्षणायोगात् । अवक्तव्यबन्धावस्थितबन्धौ तु वेदनीयवर्जकर्मचतुष्टये सम्भवतः । तथाहि—ज्ञानावरणा-ऽन्तराय-गोत्राणामुपशान्तमोहावस्थायां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तान्येव बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः । आयुषस्तु यदा त्रिभागादिसमयादौ बन्धकस्तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः । वेदनीयद्विकस्य त्ववस्थितबन्धोऽस्ति, प्रभूतकालमवस्थितत्वेन बध्यमानत्वात्, अवक्तव्यबन्धस्तु न सम्भवति, स हि सर्वथाऽबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनस्तदेव बध्नाति तदा सम्भवति, न चैतद् वेदनीयेऽस्ति, तस्य सर्वथाऽबन्धकत्वमयोगिकेवलिचरमसमय एव, न चायोगिकेवलिनो भगवतो भूयो बन्धोऽस्तीति । उक्तं च—

[2]नाणावरणे तह आउयम्मि गोयम्मि अंतराए य ।
ठियअव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया वेयणिज्जम्मि ॥ (श० चू० भा० गा० ३१७) इति ॥२५॥

तदेवं भूयस्कारादिप्रकारैश्चिन्तितः प्रकृतिबन्धः । साम्प्रतं स एव स्वामित्वद्वारेण चिन्तनीयः स च गुणस्थानकान्याश्रित्य लघुकर्मस्तवटीकायां मार्गणास्थानकान्याश्रित्य पुनः स्वोपज्ञबन्धस्वामित्वटीकायां विस्तरेण निरूपितस्तत एवावधारणीय इति [प्रकृति]बन्धः समाप्तः ।

इदानीं स्थितिबन्धं व्याचिख्यासुः प्रथमं मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरं तं तावदाह-

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥

अतिमहत्त्वादुदधिवत् तरीतुम्-अचिरात् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराणि-सागरोपमाणि तेषां कोटिकोटयोऽतरकोटिकोटयः । कियत्यः ? इत्याह—'विंशतिः' 'विंशतिसङ्ख्या भवन्ति । क ? इत्याह—"नामे" त्ति नामकर्मणि गोत्रे चोत्कृष्टा स्थितिः, उत्तरगाथायां जघन्यस्थितेर्भणिष्यमाण-

---

१ बहुषु पुस्तकादर्शेषु ०द्धरिते० इत्यपि पाठो दृश्यते, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।
२ ज्ञानावरणे तथाऽऽयुष्के गोत्रेऽन्तराये च । स्थिता-ऽवक्तव्यकबन्धौ अवस्थितो वेदनीये ॥

त्वादिहोत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते । ततोऽयमर्थः--नाम[1]कर्मणि गोत्रे च उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम् । सप्ततिकोटीकोटयः सागरोपमाणां 'मोहे' मोहनीये । 'इतरेषु' आयुषो भणिष्यमाणत्वेन भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणेषु चतुर्षु कर्मसु त्रिंशत्कोटीकोटयः सागरोपमाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिर्भवति । आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'निरय' त्ति निरया[2]युषि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति ॥२६॥

मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥२७॥

इह वेदनीयकर्मणो हि स्थितिर्द्विधा सम्भवति—अकषायिणः प्रतीत्य सकषायिणश्च । तत्राकषायिणो वेदनीयस्य स्थितिर्द्विसमयस्थितिका, यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति सा चेह नाधिक्रियते, सकषायिस्थितिबन्धस्यैवेहाधिकृतत्वात् । अत उक्तम्—'मुक्त्वा' त्यक्त्वा अकषायिणाम् उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनां जघन्यां वेदनीयस्थितिम् । तर्हि सकषायिणां जघन्या किंप्रमाणा ? इत्याह—'द्वादश मुहूर्ताः' चतुर्विंशतिघटिकाः 'जघन्या' लघीयसी 'वेदनीये' तृतीये कर्मणि स्थितिर्भवतीति । "अट्ठऽट्ठ नामगोएसु' त्ति मुहूर्तशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् प्रत्येकमष्टावष्टौ मुहूर्ता नाम-गोत्रयोर्जघन्या स्थितिर्भवति । 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽऽयुः-अन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु "मुहुत्तंतो" त्ति मीयत इति मुहूर्तः मुहुरियर्तीति वा मुहूर्तः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः, घटिकाद्वयप्रमाणः कालः, मुहूर्तस्यान्तर्-मध्यं मुहूर्तान्तः, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा जघन्या स्थितिर्भवति । इह च "सेसएसुं" इत्यत्र ककारः स्वार्थिक इति । तथेहाबाधाकालः कर्मणोऽनुदयलक्षणो य उत्तराः प्रकृतीरुद्दिश्य "एवइयाबाह वाससया" (गा० ३२) इति गाथावयवेन वक्ष्यते स एव तदनुसारतो मूलप्रकृतिष्वपि द्रष्टव्यः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा द्रष्टव्या, बद्धमपीत्थमेतत् कर्म वर्षसहस्रत्रयं यावद् विपाकोदयलक्षणां बाधां न करोतीत्यर्थः । तया च वर्षसहस्रत्रयलक्षणयाऽबाधया ऊना-हीना कर्मस्थितिः कर्मनिषेको द्रष्टव्यः । निषेको नाम—प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं रच्यते [3]यत्र स एवम्भूतः कर्मदलिकरचनाविशेष उच्यते । अबाधां विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं

---

१ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रेषु पुस्तकादर्शेषु "०कर्मणि उत्कृष्टास्थितिर्विंशतिकोटिकोटय. सागरोपमाणाम्, तथा गोत्रेऽपि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम्" इत्येवरूपः पाठः ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिनीषु सप्तस्वपि प्रतिषु "०युषि उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधय.' सागरोपमाणि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधय.' सागरोपमाणि भवन्तीति" इत्येवंरूपः पाठः ॥ ३ स० १-२ छा० त० म० ०त्र एव० ॥

कर्मनिषेको भवतीति भावना । स्थापना– ⁘ । मोहनीयस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेको निगदितलक्षणो द्रष्टव्यः । नाम-गोत्रयोर्द्वे द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः । आयुष्कस्य तु नरकायुः- सुरायुर्लक्षणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदतराणि पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः अत्र च सूत्रेऽबाधां प्रपात्य "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति निषेककाल एवोक्तः । अत एव श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके—

'तित्तीसुदही आउम्मि केवला होइ एवमुक्कोसा । (गा० ५३)

इत्यत्र केवलाऽबाधारहितेत्युक्तम् । तथा मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रस्तावेऽपि "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति यदुत्तरप्रकृतिस्थितिप्रतिपादनं तद् ग्रन्थलाघवार्थमिति परिभावनीयम् । जघन्या त्वबाधा सर्वासामप्यन्तमुहूर्तात्मिकेति ॥२७॥

प्ररूपिता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरभेदा स्थितिः । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

विग्घावरणअसाए, तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥

"नपु कुखगइ सासचऊ" (गा० ३२) इति गाथोक्तकोटाकोटीशब्दस्य सर्वत्र सम्बन्धाद् एवं प्रयोजनीयम्–विघ्नानि च–दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पञ्च, आवरणानि च–ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकलक्षणानि चतुर्दश, असातं च–असातवेदनीयं समाहारद्वन्द्वे विघ्नावरणासाते । विघ्नेषु पञ्चसु ज्ञानावरणेषु पञ्चसु दर्शनावरणेषु नवसु असातवेदनीये च त्रिंशत्कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणामिति सर्वत्र योज्यम् । अष्टादश कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, क्व ? इत्याह–त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'सूक्ष्मत्रिके' सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणरूपे 'विकलत्रिके' द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणे तथा प्रथमशब्दस्य प्रत्येकं योगात् 'प्रथमाकृतौ' प्रथमसंस्थाने समचतुरस्रनामनि 'प्रथमसंहनने' वज्रऋषभनाराचाभिधे दश दश कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । "उवरिमेसु दुगवुड्ढि" त्ति 'उपरितनेषु' न्यग्रोधपरिमण्डलादिसंस्थानेषु ऋषभनाराचादिसंहननेषु च 'द्विकवृद्धिः' सागरोपमकोटाकोटीदशकोपरि द्विकवृद्धिर्द्रष्टव्या । तद्यथा–न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश सागरोपमकोटी-

---

१ त्रयस्त्रिंशदुदधय आयुषि केवला भवत्येवमुत्कृष्टा ॥

कोटय उत्कृष्टा स्थितिः, कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरिति ॥२८॥

चालीस कसाएसुं, मिउलहुनिदुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दंबिलाईणं ॥२९॥

चत्वारिंशत् सागरोपमकोटीकोटयः 'कषायेषु' अनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्कलक्षणेषु षोडशसु उत्कृष्टा स्थितिः। मृदु-लघु-स्निग्ध-उष्णानां चतुर्णां शुभानां स्पर्शानां सुरभिगन्धस्य "सिय" त्ति सितवर्णस्य मधुररसस्य च "दस" त्ति दश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। तथा त एव दश द्विसार्धसमधिकाः सन्तो हारिद्रा-ऽम्लादीनां पश्चानुपूर्व्या उत्कृष्टा स्थितिर्वेदितव्या। इयमत्र भावना—हारिद्रवर्णस्याऽम्लरसस्य चार्धत्रयोदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। लोहितवर्ण कषायरसयोः पञ्चदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। कृष्णवर्ण तिक्तरसयोर्विंशतिः सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। यद्यपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटाकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसङ्ग्रहे अभिहिता अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता, बन्धं तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयमिति ॥२९॥

दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥३०॥

दश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। क्व ? इत्याह—'शुभविहायोगतौ' प्रशस्तविहायोगतौ उच्चैर्गोत्रे 'सुरद्विके' सुरगति सुरानुपूर्वीलक्षणे 'स्थिरषट्के' स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिसंज्ञिते 'पुरुषे' पुरुषवेदे रतौ हास्ये। तथा मिथ्यात्वे सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः। तथा 'मनुजद्विके' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपे स्त्रीवेदे 'साते' सातवेदनीये पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः ॥३०॥

भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥३१॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुग्गंधे ।
वीसं कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥३२॥

भये 'कुत्सायां' जुगुप्सायाम् अरति-शोके, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विके-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपे, तिर्यग्द्विके--तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणे, औदारिकद्विके-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्ये, नरकद्विके-नरकगति-नरकानुपूर्वीस्वरूपे, नीचैर्गोत्रे 'तैजस-पञ्चके' तैजस--कार्मणा--ऽगुरुलघु--निर्माण उपघाताभिधे, अस्थिरषट्के--अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणे, त्रसचतुष्के--त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकरूपे, स्थावरे "इग" त्ति एकेन्द्रियजातौ पञ्चेन्द्रियजातौ "नपु" त्ति नपुंसकवेदे 'कुखगतौ' अप्रशस्तविहायोगतौ, "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्के' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणे, गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीतेषु अशुभस्पर्शेषु 'दुर्गन्धे' दुरभिगन्धे चेत्येतासु द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु प्रकृतिषु विंशतिसागरोपम-कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। तथाऽऽहारकवर्जितानामौदारिकादिशरीराणां ये बन्धन-सङ्घा-तास्तेषामपि स्थितिः स्वशरीरस्थितितुल्यैव विज्ञेया, तेन बन्धनादीनामपि विंशतिः सागरोपम-कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरिति दृश्यम्। तथा चोक्तं पञ्चसङ्ग्रहटीकायाम्—

"स्थिति-उदय-बन्धकालाः सङ्घातन-बन्धनानां स्वशरीरतुल्या ज्ञेयाः।"

तदत्र स्थितितुल्यतया प्रयोजनमिति। सम्प्रत्युक्तोत्तरप्रकृतीनामेवोत्कृष्टाऽबाधामाह—"एवइया-बाह वाससय" त्ति लिङ्गव्यत्ययाद् एतावन्ति वर्षशतानि 'अबाधा' कर्मणः प्रदेश-विपाकाभ्याम-नुदयकाल इत्यक्षरघटना। भावार्थस्त्वयम्--यासां प्रकृतीनां यावत्यः कोटीकोट्यः स्थितिरुक्ता तासां तावन्ति वर्षशतान्यबाधेति, तावन्मात्रेषु समयेषु न वेद्यदलिकनिक्षेपं करोतीति यावत्। तद्यथा--पञ्चानां विघ्नप्रकृतीनां पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनामसात-वेदनीयस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, तस्या अबाधाकालोऽप्युत्कृष्टस्त्रिंशद्वर्ष-शतानि वेदितव्यः। यथा--दानान्तरायमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत् त्रिंशद्वर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। एवं सर्वप्रकृतिष्वपि वाच्यम्। यथा--सूक्ष्मत्रिके विकलत्रिके चाऽष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिक-निषेकः। समचतुरस्रसंस्थान-वज्रऋषभनाराचसंहननयोर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्म-दलिकनिषेकः। न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधा-हीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिवर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्म-दलिकनिषेकः। षोडशसु कषायेषु चत्वारि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः।

मृदु-लघु-स्निग्ध-उष्ण-सुरभिगन्ध-श्वेतवर्ण-मधुररसलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनां वर्षसहस्रमेकमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हारिद्रवर्णा-ऽम्लरसयोः सार्धद्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । लोहितवर्ण-कषायरसयोः पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । कृष्णवर्ण-तिक्तरसयोर्वर्षसहस्रद्वयमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा प्रशस्तविहायोगति-उच्चैर्गोत्र-सुरगति-सुरानुपूर्वी-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशः-कीर्ति-पुरुषवेद-हास्य-रतिलक्षणानां त्रयोदशप्रकृतीनामेकं वर्षसहस्रमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मिथ्यात्वस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-स्त्रीवेद-सातवेदनीयलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा भय-जुगुप्सा-ऽरति-शोक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नीचैर्गोत्र-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाता-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थावर-एकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-नपुंसकवेदा-ऽप्रशस्तविहायोगति-उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघात-गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीत-दुरभिगन्धलक्षणानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ॥३२॥

गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

स्थितिशब्दस्योत्तरपदस्थस्येहापि सम्बन्धाद् 'गुरुः' गरीयसी—उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणां कोटीकोट्या अन्तर्-मध्ये "तित्थाहाराण" त्ति तीर्थकरनामा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां भवतीति शेषः । किमुक्तं भवति ?—तीर्थकरनाम्न आहारकद्विकस्य च सागरोपमाणामन्तःकोटीकोटीप्रमाण एवोत्कृष्टः स्थितिबन्धकालो भवति नोपरिष्टादिति । "भिन्नमुहु बाह" त्ति प्राकृतत्वादकारलोपे भिन्नमुहूर्तम्—अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालम् 'अबाधा' अनुदयावस्था उत्कृष्टा, जघन्याऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैव, ततः परं दलिकरचनायाः सद्भावेनावश्यं प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति । केचित् "तीर्थकरनामकर्म अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित् प्रदेशत उदेति, तदुदये चाज्ञैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य सम्भवन्तीति सम्भावयामः" इति व्याचक्षते । उत्कृष्टा तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः स्थितिरुक्ता । अथैतयोरेव जघन्यां स्थितिमाह—"लहुठिइ संखगुणूण" त्ति लघुस्थितिस्तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः सङ्ख्येन-सङ्ख्यातकाललक्षणेन गुणेन-गुणकारेण ऊना—हीना सङ्ख्यगुणोना, उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एव सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपः

सङ्ख्येयगुणहीनो जघन्यस्थितिबन्धः, सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाण इति तात्पर्यम् । तथेहाप्याहारकस्य ये बन्धनसङ्घातास्तेषामपि स्वशरीरस्थितिप्रमाणैव स्थितिर्विज्ञेयेति । ननु तीर्थकरनामकर्म तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीयभव एव बध्यते । यदागमः—

[1]बज्झइ तं तु भगवओ, तइयभवोसक्कइत्ताणं । (आव० नि० गा० १८३) ।

तत् कथं जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यते ? तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, "बज्झइ तं तु" इत्यादिकं निकाचनापेक्षयोक्तम्, इतरथा तु तृतीयभवादर्वाक्तरामपि बध्यते ।

यदाहुः संशयशतशाखिशातनानिशिताकुण्ठकुठारकल्पाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः विशेषणवत्याम्--

[2]कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई ।
बज्झइ य तं अणंतर भवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं ॥ (गा० ७८)

ततः कथमेतत् परस्परं युज्यते ? अत्रोत्तरम्--

[3]जं बज्झइ त्ति भणियं, निकाइयं तं तु तत्थ नियमोऽयं ।
तदवंझफलं नियमा, भयणा अनिकाइयावत्थे ॥ (गा० ८०)

आह यदि तीर्थकरनाम्नो जघन्याऽपि स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तर्हि तावत्याः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तिर्यग्गतावपि तीर्थकरनामसत्कर्मा जन्तुः कियन्तं कालं यावद् भवेत् ? तथा च सति आगमविरोधः, आगमे तिर्यग्गतौ तीर्थकरनामसत्कर्मा सन् प्रतिषिध्यते । अत्रोच्यते--निकाचितस्यैव तीर्थकरनामकर्मणस्तिर्यग्गतौ सतः प्रतिषेधात् ।

उक्तं च--

जमिह निकाइयतित्थं, तिरियभवे तं निसेहियं संतं ।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उवट्टणोवट्टणासज्झे ॥ (पञ्चसं० गा० २५१)

अस्या अक्षरगमनिका--'इह' अस्मिन् प्रवचने यत् तीर्थकरनामकर्म 'निकाचितम्' अवश्यंवेद्यतया व्यवस्थापितं तदेव स्वरूपेण 'सत्' विद्यमानं तिर्यग्गतौ निषिद्धम् । 'इतरस्मिन् पुनः' अनिकाचिते उद्वर्तना-ऽपवर्तनासाध्ये तिर्यग्गतावपि विद्यमाने न कश्चिद्दोषः, यतस्तत् प्रभूतस्थितिकमप्यपवर्तनाकरणेन लघुस्थितिकं क्रियते, [4]उद्वर्तनया वा तद् अन्यप्रकृतित्वेनावस्थाप्यत इति ॥

---

१ बध्यते तत्तु भगवतस्तृतीयभवेऽवष्वष्कयित्वा ॥ २ कोटाकोटी अतरोपमाणां तीर्थकरनामकर्मस्थिति । बध्यते च तदनन्तरे भवे तृतीये निर्दिष्टम् ॥ ३ यद् बध्यत इति भणितं निकाचितं तत्तु तत्र नियमोऽयम् । तदवन्ध्यफलं नियमाद् भजनाऽनिकाचितावस्थे ॥ ४ सं० १-२ छा० त० म० उद्वलनया ॥

"नरतिरियाणाउ पल्लतिगं" ति नर-तिरश्चामायुषोः 'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रिकमुत्कृष्टा स्थितिरिति। यद्यपि मूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिभणनप्रस्तावे देव-नारकायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणैव स्थितिरुक्ता, नरतिर्यगायुषोस्तु पल्योपमत्रयप्रमाणैव, तथापि पूर्वकोटित्रिभागाधिकैवासौ सर्वा बध्यते इत्यवसेयम्। नन्वेवं तर्हि सूत्रे पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्वं कस्मान्नोक्तम्? सत्यम्, असौ पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधारूपतयैवापयाति न पुनरुदयमायाति, अतो यावती स्थितिरायुषो वेद्यते तावत्प्रमाणैवाबाधारहिता सूत्रे उपात्तेत्यदोष इति ॥३३॥

इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा, अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥

एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च पूर्वाणि--आगमप्रतीतानि, तद्यथा--

[1]पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०२)

तेषां पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी तां पूर्वकोटीं यावदायुष उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पूर्वकोटयभ्यधिकामपीति। आयुःशब्दश्च "आउचउ अमणा" इति पदाद् योजनीयः। इदमत्र हृदयम्--एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्चोत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटयायुष्केष्वेव नर-तिर्यक्षु समुत्पद्यन्ते, न नारकदेवा-ऽसङ्ख्येयवर्षायुष्कतिर्यङ्-मनुष्येषु, अत एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टायुर्बन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या। एषां स्वस्वभवत्रिभागोऽबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। यदुक्तं **कर्मप्रकृतौ**--

सेसाण पुव्वकोडी, साउतिभागो अबाहा सिं ॥ (गा० ७४)

अत्र टीका-'शेषाणां च' एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तानाम् असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चापर्याप्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां परभवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्य[2]धिका वेदितव्या। आयुष[3] उत्कृष्टस्वभवत्रिभागोऽबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति।

"पलियासंखंस आउचउ अमण" त्ति 'अमनसः' मनोयोगरहिताः, असंज्ञिनः पर्याप्ता इत्यर्थः, 'पल्योपमासङ्ख्यांशं' पल्योपमासङ्ख्येयभागं आयुषां चतुष्कं बध्नन्ति, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्। किमुक्तं भवति?--असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु चतुर्णा-

---

१ पूर्वस्य तु प्रमाणं सप्ततिः खलु भवन्ति कोटिलक्षाणि। षट्पञ्चाशच्च सहस्राणि बोद्धव्यानि वर्षकोटीनाम्॥ २ सं० १ ०भ्यधिको वेदितव्य ॥ ३ म० छा० ०षश्च उत्कृ० ॥

मप्यायुषां परभवसम्बन्धिनामुत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा पूर्वकोटित्रिभागाधिका भवति, पूर्वकोटित्रिभागश्चाबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ।

यदवादि कर्मप्रकृतौ श्रीमदाराध्यपादैः--

[1]आउचउक्कुक्कोसं, पल्लासंखिज्जभाग अमणेसु । (गा० ७४) इति ।

आयुषामुत्कृष्टां स्थितिमभिधाय तेषामेवोत्कृष्टामबाधामाह--"निरुवकमाण छमासा अबाह" त्ति 'निरुपक्रमाणां' "सत्यभामा" इति न्यायात् निरुपक्रमायुषां देव-नारकाणामसङ्ख्येय-वर्षायुषां नर-तिरश्चां च भवान्तरप्रायोग्यायुर्बन्धकारिणां 'षण्मासाः' षण्मासप्रमाणा 'अबाधा' व्यावर्णितस्वभावा भवतीति शेषः, यतस्ते षण्मासावशेषायुष एवोत्तरभवप्रायोग्यमायुर्बध्नन्ति ।

यदाह भाष्यपीयूषपयोधिः:-

[2]देवा नेरइया वा, असंखवासाउया य तिरिमणुया ।
छम्मासऽवसेसाऊ, परभवियं आउ बंधंति ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०७)

इति यथोक्त एवाबाधाकालः । केचित्तु मन्यन्ते—युगलधार्मिकाः पल्योपमासङ्ख्येयभागे निजा-युषोऽवशिष्यमाणे परभवायुष्कं बध्नन्ति, तन्मतेनाबाधाऽपि युगलधार्मिकान् उद्दिश्य पल्योपमा-सङ्ख्येयभागप्रमाणैवेति मन्तव्यम् । यदुक्तम्—

[3]पलियासंखिज्जंसं, जुगधम्मीणं वयंतऽन्ने । (पञ्चसं० गा० २४८) इति ।

"सेसाण भवतंसो" त्ति 'शेषाणां' सङ्ख्येयवर्षायुषां सोपक्रम-निरुपक्रमायुषां नर-तिरश्चां भवस्य-स्वकीयजन्मनस्त्र्यंशः—त्रिभागो भवत्र्यंशोऽबाधेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, यतस्ते निज-जन्मनः त्रिभाग एवावशिष्टे "[4]सेसा पुणो तिभाए" (जिनभ० संग्र० गा० ३०९) इति वचनाद् उत्कृष्टतः परभवप्रायोग्यमायुर्बन्धं विदधतीति ॥३४॥

प्रतिपादिता सर्वोत्तरप्रकृतीनामबाधान्विता उत्कृष्टा स्थितिः । इदानीं तासामेव जघन्यां स्थिति निरूपयितुकाम आह—

लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥

'लघुस्थितिबन्धः' जघन्यस्थितिबन्धो भिन्नमुहूर्तं भवति, क्व ? इत्याह—संज्वलनलोभे प्रतीते, 'पण'शब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विघ्नपञ्चके-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायरूपे, ज्ञानावरण-

---

१ आयुश्चतुष्कमुत्कृष्टं पल्यासङ्ख्येयभागोऽमनस्केषु ॥ २ देवा नैरयिका वा असंख्यवर्षायुष्काश्च तिर्यङ्-मनुजाः । षण्मासावशेषायुषः पारभविकं आयुर्बध्नन्ति ॥ ३ पल्यासङ्ख्येयांशं युग्मधर्मिणां वदन्त्यन्ये ॥ ४ शेषाः पुनस्त्रिभागे ॥

पञ्चके–मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानावरणलक्षणे, "दंसेसु" त्ति दर्शनचतुष्के-चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनावरणस्वभावे। कोऽर्थः? ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्क-संज्वलनलोभलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव, यतः संज्वलनलोभस्याऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके शेषचतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये स्वबन्धव्यवच्छेदकालेऽन्तर्मुहूर्तमात्रैव स्थितिर्बध्यते। "ते अट्ठ" त्ति "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् 'ते' मुहूर्ता घटिकाद्वयप्रमाणाः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या यशःकीर्तिनाम-उच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यस्थितिर्भवति। "बारस य" त्ति द्वादश मुहूर्ताः, 'चः' पुनरर्थे स च भिन्नक्रमः, ततः 'साते' सातवेदनीये कर्मणीति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

[1]भिन्नमुहुत्तं आवरणविग्घदंसणचउक्कलोहन्ते।
बारस साइ मुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु॥ (गा० ७६) इति॥ ३५॥

दो इग मासो पक्खो, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं॥३६॥

द्वौ मासौ एको मासः पक्षश्च जघन्या स्थितिः, क्व? इत्याह—'संज्वलनत्रिके' क्रोध-मान-मायारूपे। एतदुक्तं भवति—संज्वलनक्रोधे द्वौ मासौ जघन्या स्थितिः, संज्वलनमाने एको मासो जघन्या स्थितिः, संज्वलनमायायां पक्षः–पञ्चदशदिना[2]त्मको जघन्या स्थितिः। "पुमट्ठवरिसाणि" त्ति पुंवेदेऽष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः। यतश्चतसृणामप्येतासां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरगुणस्थाने निजनिजबन्धव्यवच्छेदसमये प्रतिपादितप्रमाणैव स्थितिर्बध्यत इति। यासां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां स्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तादिका सम्भवति तासां तथैव सा प्रतिपादिता। आहारकद्विक-तीर्थकरलक्षणप्रकृतित्रयस्य तदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनप्रस्ताव एव जघन्याऽप्यसावभिहिता। आयुश्चतुष्टयस्य स्वामित्वप्रस्तावे वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिर्वक्ष्यते। शेषपञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेष्वेव प्राप्यमाणजघन्यस्थितिबन्धानां जघन्यस्थितिनिरूपणार्थं करणमाह—"सेसाणुक्कोसाओ" इत्यादि गाथार्धम्। 'शेषाणां' भणित-वक्ष्यमाणपञ्चत्रिंशत्प्रकृतिभ्योऽवशिष्टानां निद्रापञ्चकादीनां पञ्चाशीतिप्रकृतीनाम् 'उत्कृष्टात्' सर्वप्रकृतीनां निजनिजोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् 'मिथ्यात्वस्थित्या' सप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते 'यद् लब्धं' यद् अवाप्तं सा जघन्यस्थितिः। एवं च सति निद्रापञ्चकेऽसाते च [सागरोपमस्य] त्रयः सप्तभागाः ३/७। मिथ्यात्वस्य सागरोपमम्। संज्वलनवर्जद्वादशकषायाणां चत्वारः सप्तभागाः

---

१ भिन्नमुहूर्त्तमावरणविघ्नदर्शनचतुष्कलोभान्ते। द्वादश साते मुहूर्त्ता अष्टौ च यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः॥ २ सं० १-२ त० म० ०त्मका॥

४/७ । स्त्रीवेद-मनुष्यद्विकयोस्त्रयश्चतुर्दशभागाः ३/१४, यतः पञ्चदशानां पञ्चमे भागे त्रयः, सप्ततेश्च पञ्चमे भागे चतुर्दश लभ्यन्ते । सूक्ष्मत्रिके विकलेन्द्रियजातित्रिके च नव पञ्चत्रिंशद्भागाः ९/३५, यत एतेषामष्टादशकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता तस्याः सप्तत्या भागे हृते लब्धा अष्टादश सप्ततिभागाः १८/७०, अनयोश्च भाज्य-भागहारकराश्योरुभयोरप्यर्धीकरणे सम्पन्नाः ९/३५ । एवमन्यत्रापि निजं निजमुत्कृष्टस्थितिकं भाज्यराशिं मिथ्यात्वस्थितिरूपं भागहारकराशिं चार्धीकृत्य जघन्या स्थितिर्वाच्या । तथा स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-हास्य-रति-शुभविहायोगति-वज्रर्षभनाराच-संहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुरभिगन्ध-शुक्लवर्ण-मधुररस–मृदु–लघु–स्निग्ध–उष्णस्पर्शलक्षणस्य प्रकृतिसप्तदशकस्यैकः सप्तभागः १/७ । शेषस्य च शुभा-ऽशुभवर्णादिचतुष्कस्य द्वौ सप्तभागौ २/७, केवलं वर्णादिचतुष्कं बन्धेऽविशेषितमेवाधिक्रियते इति प्रागेवोक्तम्, ततः सप्तभागद्वयमेव चतुर्णामपि सामान्येन द्रष्टव्यम् । द्वितीययोः संस्थान-संहननयोः षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः ६/३५ । तृतीययोः संस्थान-संहननयोः सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः ७/३५ । चतुर्थयोः संस्थान-संहननयोरष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः ८/३५ । पञ्चमयोः संस्थान-संहननयोर्नव पञ्चत्रिंशद्भागाः ९/३५ । शेषाणां त्रस-बादर पर्याप्त-प्रत्येका-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वासा-ऽस्थिरा--ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति–औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-निर्माणा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहनन-तैजस-कार्मण-नीचैर्गोत्रा-ऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा-नपुंसकवेदलक्षणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ २/७ । इयं चासां जघन्या स्थितिरेकेन्द्रियानेवोद्दिश्य प्राप्यते, न शेषजीवानिति । तथा जघन्यस्थितिप्रस्तावादे-केन्द्रियाणामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो वाच्यः, यथाऽयमेव जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमासङ्ख्येय-भागमात्राभ्यधिक उत्कृष्टो भवतीति । तथा चोक्तम्—

[1]'जा एगिंदि जहन्ना, पलियासंखंससंजुया सा उ । तेसिं जिट्ठ त्ति (पञ्चसं० गा० २६१) । इति **पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायेण** व्याख्यातम् । अथ चेदमेव गाथार्धं **कर्मप्रकृत्यभिप्रायेणान्यथा** व्याख्यायते–"सेसाणं" इत्यादि । 'शेषाणाम्' अवशिष्टानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनामित्यर्थः । "उक्कोसाउ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् 'उत्कृष्टाद्' इति सामान्योक्तावपि वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धादिति दृश्यम् । अथ कोऽयं वर्गोत्कृष्टः स्थितिबन्धः ? उच्यते–सजातीयप्रकृतीनां समुदायो वर्गः । यथा—मतिज्ञानावरणादिप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणवर्गः, चक्षुर्दर्शनावरणादि-प्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणवर्गः, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयप्रकृति-

१ या एकेन्द्रियाणां जघन्या पल्यासंख्यांशसंयुता सा तु । तेषां ज्येष्ठेति ॥

समुदायो दर्शनमोहनीयवर्गः, कषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायः कषायमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः, अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्ग इति । एवंविधस्य वर्गस्य सम्बन्धी उत्कृष्टो वर्गोत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽभिधीयते, तस्मात् वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिरूपया भागे हृते 'यद् लब्धं' यद् अवाप्तं तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनं सद् जघन्यस्थितितया भवतीति गम्यते । अत्र च वर्गोत्कृष्टादिति व्याख्यानेनैतदवसीयते—वर्गान्तर्गतानामवमस्थितिकानामपि सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां जघन्यस्थित्यानयनाय निजनिजवर्गस्यैवोत्कृष्टा त्रिंशत्कोटीकोट्यादिस्थितिर्विभजनीया, न तु स्वकीया पञ्चदशकोटीकोट्यादिकेति । तथा यद्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोनमिति नोक्तं तथापि "पलियासंखंसहीण लहुबंधो" (गा० ३७) इति अनन्तरगाथावयवेनैकेन्द्रियाणां लब्धमप्तभागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागोना एव जघन्यस्थितितयाऽभिधास्यन्ते; अतोऽत्रापि जघन्यस्थितिप्रस्तावात् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनत्वमवसीयते ।

यदवादि दुर्वादिकुम्भिकुम्भस्थलदलनकेसरिवरिष्ठैः शिवशर्मसूरिपादैः कर्मप्रकृतौ—

वग्गुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं ।
सेसाणं तु जहन्ना, पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ (गा० ७९)

अस्या अक्षरगमनिका--इह ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्गः, एवं दर्शनावरणवर्गः, वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयवर्गः, कषायमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयवर्गः, नामवर्गः, गोत्रवर्गः, अन्तरायवर्गः । एतेषां वर्गाणां या आत्मीया आत्मीया स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा तस्यां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सागरोपमसप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते सति यद् लभ्यते तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनं सद् उक्तशेषाणां [पञ्चाशीतेः] प्रकृतीनां जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम् । तथाहि--दर्शनावरण-वेदनीयवर्गयोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति "शून्यं शून्येन पातयेद्" इति वचनाद् लब्धास्त्रयः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{3}{7}$, ते पल्योपमासङ्ख्येयभागोना निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीययोर्जघन्यस्थितितया मन्तव्याः । दर्शनमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमकोटाकोटीसप्ततिरूपा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या तावत्यैव भागे हृते लब्धाः सप्त सागरोपमसप्तभागाः $\frac{7}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना मिथ्यात्वस्य जघन्यस्थितितयाऽवसेयाः । कषायमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{4}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनाः

१ सं० २ छा० ०वर्गः, चारित्रमोहनीयसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्गः, कषा० ॥

संज्वलनरहितकषायद्वादशकस्य जघन्यस्थितितया बोद्धव्याः। नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गोत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ²⁄₇ तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां जघन्यस्थितितयाऽवसेयौ। नाम-गोत्रयोश्च प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो वर्गोत्कृष्टा स्थितिः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ²⁄₇, तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तीर्थकर-यशःकीर्तिवर्जानां नाम्नः शेषसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यस्थितितया बोद्धव्याविति ॥ ॥३६॥

उक्ता सर्वप्रकृतीनां जघन्या स्थितिः। इदानीमेकेन्द्रियाणां सर्वस्वप्रायोग्योत्तरप्रकृतीरुद्दिश्योत्कृष्टां जघन्यां च स्थितिमाह–

अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥

'अयम्' इत्यनन्तरोद्दिष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धसप्तभागरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियेषु ज्ञातव्यः। तथाहि–ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशतिप्रकृतीनां त्रयः सागरोपमसप्तभागाः ³⁄₇, यत एतद्वर्गाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते त्रय एव सागरोपमसप्तभागा लभ्यन्ते इति। एवमन्यत्रापि भागभावना कार्या। ततश्च मिथ्यात्वस्य सप्त सागरोपमसप्तभागाः ⁷⁄₇, कषायषोडशकस्य चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः ⁴⁄₇, नोकषायनवकस्य द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ²⁄₇, एकेन्द्रियबन्धयोग्यदेवगति-देवानुपूर्वी नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरवर्जानां शेषाणां नाम्नोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां गोत्रद्वयस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ सागरोपमसप्तभागाविति। उक्त एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः। इदानीं तेषामेव जघन्यस्थितिबन्धमाह–

"पल्लासंखंस" इत्यादि। पल्यस्य–पल्योपमस्यासङ्ख्यांशेन–असङ्ख्येयभागेन हीनः न्यूनः पल्यासङ्ख्यांशहीनोऽयमेवोत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्तभागत्रयादिकः, किम्? इत्याह–'लघुबन्धः' जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति। अयमभिप्रायः–यासां प्रकृतीनां यावत्प्रमाणः सप्तभागरूप एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्ध उक्तस्तासां तावत्प्रमाणः सप्तभागरूप एव पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनस्तेषां जघन्यस्थितितया मन्तव्य इति। निरूपित एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टो जघन्यश्च स्थितिबन्धो गाथापूर्वार्धेन। सम्प्रत्ययमेव एकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धो यैर्गुणकारैः 'सङ्गुणितः'

ताडितो द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां प्रायोग्यस्थितितया भवति तान् गुणकारानुत्तरार्धेनाह— "कममो पणवीसाए" इत्यादि। 'क्रमशः' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थः पञ्चविंशत्या सङ्गुणितः, प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपे पञ्चाशता सङ्गुणितः, शतेन सङ्गुणितः, सहस्रेण सङ्गुणितः ॥३७॥

ततः किम्? इत्याह—

विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

"'विकलेषु' विकलेन्द्रियेषु-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेषु 'असंज्ञिषु' सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्येषु 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति। इयमत्र भावना—एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमसप्तभागत्रयादिकः पञ्चविंशत्या संगुणितो द्वीन्द्रियाणां ज्येष्ठः संभवत्सर्व-प्रकृतीरुद्दिश्य स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चाशता सङ्गुणित-स्त्रीन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः शतेन सङ्गुणित-श्चतुरिन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धः, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृती-रधिकृत्य ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवतीति। द्वीन्द्रियादीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—"कणि-ट्ठओ पल्लसंखभागूणु" त्ति पल्यस्य—पल्योपमस्य सङ्ख्यभागेन—सङ्ख्यातत्तमभागेन ऊनः—न्यूनः उत्कृष्ट एव स्थितिबन्धः 'कनिष्ठकः' जघन्यस्थितिबन्धो भवति। एतदुक्तं भवति—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामात्मीय आत्मीय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पल्योपम-सङ्ख्येयभागहीनः कनिष्ठबन्धो भवति। आयुश्चतुष्टयस्य जघन्यस्थितिमानमाह—'सुरनारकायुषोः' देव-नारकायुष्कयोः समाः—वर्षाणि तासां दश सहस्राणि समादशसहस्राणि दशवर्षसहस्राणीत्यर्थः जघन्या स्थितिर्भवतीति प्रक्रमः। "सेसाउ खुड्डभवं" ति 'शेषायुषोः' तिर्यङ्-मनुष्यायुष्कयोः "खुड्डभवं" ति क्षुल्लकः--सर्वभवापेक्षया लघीयान् लिङ्गव्यत्ययाद् भवः—जन्म क्षुल्लकभवः स जघन्या स्थितिर्भवतीति ॥ ३८ ॥

प्ररूपिता जघन्यस्थितिः। इदानीं सर्वोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य जघन्याबाधामाह—

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहु अबहा आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥३९॥

'सर्वासामपि' सर्वप्रकृतीनां--विंशत्युत्तरशतसङ्ख्यानामपि 'लघुबन्धे' जघन्यस्थितिबन्धे 'भिन्न-मुहूर्तम्, अन्तर्मुहूर्तम् 'अबाधा' अनुदयकालः। किं सर्वप्रकृतीनां जघन्यबन्ध एवेयं जघन्याऽ-बाधा? आहोश्विदस्ति कासाञ्चिदियमुत्कृष्टेऽपि? इत्याह—"आउजिट्ठे वि" आयुषां--ज्येष्ठेऽपि

ज्येष्ठबन्धेऽपि, न केवलं जघन्य एवेत्यपिशब्दार्थः, जघन्याऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीति योगः। एतेनायुषश्चतुर्भङ्गकैरबाधेति सूचितम्, तद्यथा—ज्येष्ठे आयुःस्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा १ ज्येष्ठे आयुःस्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा २ जघन्ये आयुःस्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा ३ जघन्ये आयुःस्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा ४ इति। अधुना तीर्थकरा-ऽऽहारकद्विकयोः प्राङ्निरूपितामपि जघन्यां स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह--"केइ सुराउसमं" इत्यादि। केचिदाचार्याः सुरायुषा-देवायुष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन समं--तुल्यं सुरायुःसमं--देवायुस्तुल्यस्थितिकं जघन्यतो बध्यते। किं तद्? इत्याह—"जिणं" ति तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते। तथा च तैरभ्यधायि----

सुरनारयाउयाणं, दसवाससहस्स लहु सतित्थाणं। (पञ्चसं० गा० २५३)

"लहु" त्ति जघन्या स्थितिः 'सतीर्थयोः' तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थः।

तथा "आहारं" त्ति आहारकद्विकम्--आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्तं जघन्यतो बध्यते, किञ्चिदूनमुहूर्तस्थितिकं जघन्येन बध्यत इति ब्रुवते। तथा च तैरुक्तम्—

आहारकविग्घावरणाण किंचूणं (पञ्चसं० गा० २५४)

"किंचूणं" ति किञ्चिदूनं मुहूर्तं जघन्या स्थितिरिति ॥३९॥

तिर्यङ्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिः क्षुल्लकभवप्रमाणा भवतीति प्रागुक्तम्, ततस्तं क्षुल्लकभवं सप्रपञ्चं निरूपयितुकामो गाथायुगलमाह—

सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥४०॥
पणसट्ठिसहस पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥

सप्तभिरधिका दश सप्तदश 'समधिकाः' किञ्चित्समर्गलाः 'किल' इत्याप्तोक्तावित्येवं ब्रुवते। 'एकाऽऽनप्राणे' हृष्टानवकल्पादिगुणोपेतस्य जन्तोरेकस्मिन्नुच्छ्वासनिःश्वासरूपे भवन्ति क्षुल्लकाः। सूत्रे च "आणुपाणुम्मि" त्ति उकारः "स्वराणां स्वराः" (सिद्ध० ८-४-२३७) इति प्राकृतसूत्रेण। अयमर्थः—एकस्मिन् प्राणापाने क्षुल्लकभवाः समधिकाः सप्तदश भवन्तीति किलाप्ता ब्रुवते। एते च साधिकसप्तदश क्षुल्लकभवा मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्वक्ष्यमाणगाथोपन्यस्तस्य भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिनैव भागे हृते लभ्यन्ते, अतः प्रथमं मुहूर्तान्तर्गतप्राणापानराशेर्भागहारकरूपस्य प्रमाणनिरूपणार्थमाह—"सगतीससयतिहुत्तर" इत्यादि। सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, अङ्कतोऽपि ३७७३, "पाणु" त्ति प्राकृतत्वात् 'प्राणापानाः' उच्छ्वासनिःश्वासाः पुनः 'एकमुहूर्ते' घटिकाद्वयरूपे भवन्ति ॥४०॥

उक्तो भागहारको राशिः । अधुना भाज्यस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेः प्रमाणमाह—

"पणसट्ठि" इत्यादि । विभक्तिलोपात् पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि 'षट्त्रिंशानि' षट्त्रिंशदधिकानि, अङ्कतोऽपि ६५५३६, एकमुहूर्ते क्षुल्लकभवाः, एकमुहूर्तक्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्तीत्यर्थः । पञ्चषष्टिसहस्रपञ्चशतषट्त्रिंशदधिकलक्षणस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिना त्रिसप्तत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतप्रमाणेन भागे हृते सति यद् लभ्यते तद् एकत्र प्राणापाने क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणं भवतीति । तानि तु सप्तदश १७ । तथा यैर्भागहाराङ्कमानैरंशैः क्षुल्लकभवग्रहणं भवति ते त्वत्रैकत्र प्राणापानेऽष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्यांशाः पञ्चनवत्यधिकत्रयोदशशतप्रमाणा अवशिष्यन्ते, अष्टसप्तत्यधिकत्रयोविंशतिशतानि चांशानां न पूर्यन्ते इति । स्थापना– । ७, अंशा १३९५, शेषांशा –२३७८ । अतो यदुक्तम्–"सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा" इति तत् युक्तमिति । क्षुल्लकभवग्रहणं च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्, **भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्**, कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्-मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थितेः क्षुल्लकभवग्रहणरूपायाः प्रतिपादनाच्च । यत् पुन**रावश्यकटीकायां** क्षुल्लकभवग्रहणं वनस्पतिष्वेव प्राप्यत इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवसीयत इति । साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्य आवलिका एकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्त्येतदेवाह–"आवलियाणं दो सय" इत्यादि । 'आवलिकानां' [1]'असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ । (अनुयो० पत्र-१७८-२) इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवतः 'एकक्षुल्लकभवे' एकक्षुल्लकभवग्रहण इति ॥ ४१ ॥

प्रतिपादितं स्थितिबन्धप्रसङ्गागतं क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणम् । उक्त उत्कृष्टस्थितिबन्धो, वैक्रियषट्कवर्जो जघन्यस्थितिबन्धश्च सर्वाः प्रकृतीराश्रित्य । सम्प्रत्येता एव प्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं, सेसपयडीणं ॥४२॥

'अविरतसम्यक्त्वः' अविरतसम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् मनुष्यः पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽर्वाक्स्थितिबन्धे "तित्थं" ति तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति, "[2]तित्थयरं पि मणूसो,

---

१ असंख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सा एका आवलिकेत्युच्यते ॥ २ तीर्थकरमपि मनुष्योऽविरतसम्यक्त्वः समर्जयति ॥

अविरयसम्मे समज्जेइ ॥" (शत० गा० ६०) इति वचनात् । इयमत्र भावना–तीर्थंकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थंकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति भावः । तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थंकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थंकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम् , क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिन्नरकं प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थित्यबन्धकत्वात् तस्या एव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते, अतस्तीर्थंकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति ।

तथा 'आहारकद्विकम्' आहारकशरीर-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं "पमत्तु" त्ति प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तभावान्निवर्तमान इति विशेषो दृश्यः, उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति । अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यत इतीत्थं विशिष्यते । तथा 'अमरायुः' देवायुष्कं प्रमत्तसंयतः पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटीलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिकं पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणं बध्नाति । पूर्वकोटीत्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टं लभ्यते, अबाधायाः परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम् । अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषणं तर्हि किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते–शुभेयं स्थितिर्विशुद्ध्या बध्यते, सा चास्याऽप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति । तर्ह्यप्रमत्त एव कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोच्यते ? इति चेद् उच्यते–अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात् , "[1]देवाउयं पमत्तो" (शत० गा० ६०) इति वचनात् प्रमत्तेनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्तः कदाचित् समर्थयते, "[2]देवाउयं च इक्कं, नायव्वं अप्पमत्तम्मि" (बृ० कर्मस्तवगा० १९) इति वचनात् । शेषाणां षोडशोत्तरशतसङ्ख्यप्रकृतीनां 'ज्येष्ठस्थितिम्' उत्कृष्टस्थितिं मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, यतः स्थितिरशुभा संक्लेशप्रत्यया च, संक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः । अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसंक्लिष्टत्वमुच्यते, यावता तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नातीति द्रष्टव्यम् , तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् । उक्तं च—

[3]सव्वठिईणं उक्कोसओ उ उक्कोससंकिलेसेण ।
विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाणं ॥ (शत० गा० ५८) इति ।

---

१ देवायुष्कं प्रमत्तः ॥ २ देवायुष्कं चैकं ज्ञातव्यं अप्रमत्ते ॥
३ सर्वस्थितीनामुत्कृष्टकस्तु उत्कृष्टसंक्लेशेन । विपरीते च जघन्य आयुष्कत्रिकवर्जं शेषाणाम् ॥

ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते, स कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोक्तः ? न च वक्तव्यं तिर्यङ् मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति, तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वस्यानुज्ञानात्, तथा चोक्तमायुःसंवेधभङ्गकावसरे सप्ततिटीकायाम्—

तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ् मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । (पत्र १३१-२)

तत् कथमुक्तं "मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥" ? इति । अत्र प्रतिविधीयते—सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्य-तिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसङ्ख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं प्रस्तुतायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति, सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद् विशुद्ध्याधिक्यस्यानवगम्यमानत्वात्, शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धाः पठ्यन्ते, न सास्वादनः । न चैतन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितम्, यदाहुः **शिवशर्मसूरिपूज्याः**—

[1]सव्वुक्कोसठिईणं, मिच्छद्दिट्ठी उ बंधओ भणिओ ।
आहारग तित्थयरं, देवाउं वा वि मुत्तूणं ॥ (शत० गा० ६९) ॥ ४२ ॥

इह पूर्वं संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनैवोक्तः । स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति, ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक् केषां कर्मणां स्थितिरुत्कृष्टां बध्नन्ति ? इति भेदतश्चिन्तयन्नाह—

विगलसुहुमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव, आ-ईसाणा सुरुक्कोसं ॥४३॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिकं—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणरूपम्, आयुस्त्रिकं—देवायुर्वर्जं नारक-तिर्यङ्-मनुष्यायुर्लक्षणम्, द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीस्वरूपम्, वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, नरकद्विकं—नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं तिर्यङ्-मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देव-नारकाः । नारका ह्येतासां मध्ये तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषास्त्रयोदशप्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न

---

१ सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिस्तु बन्धको भणित । आहारकं तीर्थकरं देवायुः वाऽपि मुक्त्वा ॥

बध्नन्ति; तिर्यङ्-मनुष्यायुषोरपि देवकुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतः, तत्र च देव-नारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न सम्भवति; तस्मादेते तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ् मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्तमाना बध्नन्ति; सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्व-तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणद्वयम् । नारकायुषः पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः, अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति । नरकद्विकवैक्रियद्विकयोस्त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टाः पूर्वोक्तोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकलजातित्रिकसूक्ष्मत्रिकयोस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः; विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा मनुष्यप्रायोग्यं वा देवप्रायोग्यं वा रचयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम् । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गात् , विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविताः पञ्चदशापि प्रकृतयः । तथा एकेन्द्रियजाति स्थावरनामा-ऽऽतपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य 'आ ईशानाद् ' ईशानदेवलोकमभिव्याप्य 'सुराः' देवाः, कोऽर्थः ? भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः "उक्कोसं" ति उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तथाहि—ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेधः, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेधः, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतस्त एव स्थावर-एकेन्द्रिया-ऽऽतपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बन्धन्तीति ॥ ४३ ॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥४४॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् , औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् , उद्योतनाम सेवार्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुर-नारका बध्नन्ति, सर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् , न मनुष्य-तिर्यञ्चः, ते हि तद्बन्धार्हसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति, अथाऽभ्यधिकसंक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयुः, देव नारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यम् , तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्; तस्माद् देव-नारका एव सर्वसंक्लिष्टाः

प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति । अत्र च सामान्योक्तावपि सेवार्तसंहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्या नेशानान्ता देवाः, ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तर्ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः, न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते, तेषां संहननोपाङ्गाभावात्, "[1]सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणी" (जिनभ० सं० गा० १६४) इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यम्, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात् । तस्मात् प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति ।

तदेवं जिननामा-ऽऽहारकद्विक--देवायुः--विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिका-ऽऽयुष्कत्रिक--देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विक-एकेन्द्रियजाति स्थावरनामा ऽतपनाम-तिर्यग्द्विकऔदारिकद्विक-उद्योतनाम-सेवार्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः ।

शेषप्रकृतीनां तु का वार्ता ? इत्याशङ्कयाह—"सेस चउगइय" त्ति भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्यः 'शेषाणां' द्विनवतिसङ्ख्यप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणां तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि मध्येऽसाता-ऽरति-शोक-नपुंसकवेद-पञ्चेन्द्रियजाति हुण्डसंस्थान-पराघात-उच्छ्वासा-ऽशुभविहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुःस्वर-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां च विंशतेः प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति । शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सात-हास्य-रति-स्त्री-पुंवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुण्डवर्जसंस्थान-पञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति । उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः ।

अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह—"आहारजिणमपुव्वो" इत्यादि । आहारकद्विकं जिननाम "लहुं" ति 'लघुस्थितिकं' जघन्यस्थितिकं करोतीति शेषः । कः ? इत्याह—"अपुव्वु"

---

१ सुरनैरयिका एकेन्द्रियाश्च सर्वेऽसंहननाः ॥

त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् 'अपूर्वः' अपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः स्थितिमाश्रित्येत्यर्थः, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्, तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जकर्मणां च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात्। तथा "अनियट्टि संजलण पुरिस लहु" ति संज्वलनानां-क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णां 'पुरुषस्य' पुरुषवेदस्य च "लहुं" ति 'लघुस्थितिं' जघन्यस्थितिबन्धम्, "अनियट्टि" त्ति अनिवृत्तिबादरः क्षपकस्तद्बन्धस्य यथास्वं चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥४४॥

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥४५॥

'सातं' सातवेदनीयं "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रम् "आवरण" त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं 'विघ्नम्' अन्तरायपञ्चकं "सुहुमो" त्ति सूक्ष्मसम्पराय-क्षपकश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्। "विउव्विछ असन्नि" त्ति 'वैक्रियषट्कं' नरकद्विक-वैक्रियद्विक-देवद्विकलक्षणम्, असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति। किमुक्तं भवति ?—वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतयः, नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः प्रतिपादिता, सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति, वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयः, ते चासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि, यदुक्तम्—

वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असण्णिणो तेसिं ।
पलियासंखंसूणं, ठिई अबाहूणिय निसेगो ॥ (पञ्चसं० गा० २५६)

अस्या अक्षरगमनिका—"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसियाइ" (कर्मप्रकृ० गा० ७९) इत्यनेन करणेन यद् लब्धं तत् 'सहस्रताडितं' सहस्रगुणितं ततः पल्योपमासङ्ख्येयांशेन-भागेन न्यूनं सद् 'वैक्रियषट्के' देवगति देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम्। कुतः ? इत्याह—'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेषां' वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकाः, ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनाम्। अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति ॥

किञ्च एताः षट् प्रकृतयो यथासम्भवं नरक-देवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते। तत्र च देव-नारका-ऽसंज्ञिमनुष्य-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया नरकेषु देवलोकेषु [च] नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतद्बन्धासम्भवः। तिर्यङ्-मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमा-

मुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः । "सन्नी वि आउ" त्ति संज्ञी अपिशब्दाद् असंज्ञी गृह्यते, ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति । तत्र देव-नारकायुषोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याः, मनुष्य-तिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः ।

शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं" ति 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां-निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क--नपुं--सकवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क-मिथ्यात्व-मनुष्यगति-तिर्यग्गति-जातिपञ्चक-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगति-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप उद्योताऽगुरुलघु- निर्माण--उपघात-त्रसनवक-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बृहत्तरां स्थितिमुपकल्पयन्ति । विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम् । अथ स्थितिबन्ध एवोत्कृष्टानुत्कृष्टादिभङ्गकान् विचारयितुमाह—

उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

बन्धशब्दः प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्धः १ जघन्यबन्धः २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्धप्रतिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्धः ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्धः ४ इति चत्वारो भङ्गाः । तत्र यतोऽन्यो बृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्धः, ततोऽधस्तात् समयहानिमादौ कृत्वा यावद् जघन्यबन्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्यां सर्वे स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । यस्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्धः, ततः परं समयवृद्धिमादौ कृत्वा यावद् उत्कृष्टस्तावत् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या ऽजघन्यप्रकाराभ्यां वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—सादिबन्धः १ अनादिबन्धः २ ध्रुवबन्धः ३ अध्रुवबन्धः ४ चेति । तत्र यः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्धः । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । यः पुनरग्रेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुवः । यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्धः ।

एवं "चउहा सग अजहन्नु" त्ति "सग" त्ति सप्तानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सम्बन्धिन्यः याः स्थितयस्तासां यः 'अजघन्यः' अजघन्यबन्धः सः 'चतुर्धा' चतुर्विकल्पः सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्चेति । तथाहि-एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे जघन्यः स्थितिबन्धः प्राप्यते, शेषप्रकृतिषट्कस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धेऽसौ लभ्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावप्यजघन्यो भवति, उपशमकस्यापि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादजघन्य एव भवतीति भावः । ततश्चोपशान्तमोहावस्थायामजघन्यबन्धस्याबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनरपि प्रस्तुतप्रकृतिसप्तकस्याजघन्यं बध्नाति तदाऽजघन्यबन्धः सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । उपशान्तमोहाद्यवस्थां चाऽप्राप्तपूर्वाणां बन्धव्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्निरन्तरं बध्यमानत्वादनादिः । अभव्यानां ध्रुवोऽभाविपर्यन्तत्वात् । भव्यानामध्रुवो भाविपर्यन्तत्वात् ।

"सेसतिगे आउचउसु दुह" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्यउत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणे एतासां मूलप्रकृतीनां बन्धः "दुह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि-एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे, शेषाणां तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यो बन्धोऽन्तरमेवोक्तः, स चाऽबद्धपूर्वोऽजघन्यबन्धादवतीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये बध्यत इति सादिः, ततः परं क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीत्यध्रुव इति द्वावेव विकल्पौ सम्भवतो न शेषौ । उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयादिकः सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिये लभ्यते, स चानुत्कृष्टबन्धादवतीर्य कदाचिदेव बध्यते न सर्वदेति सादिः, अन्तर्मुहूर्ताच्च परं नियमादनुत्कृष्टं बध्नतोऽसौ निवर्तत इत्यध्रुवः, उत्कृष्टाच्च प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं बध्नातीत्यनुत्कृष्टोऽपि सादिः, ततः परं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेन उत्कृष्टतस्त्वनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपर्यन्ते पुनरुत्कृष्टं बध्नतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुव इति । एवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेषु जीवाः परिभ्रमन्तीति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भवः । "आउचउसु दुह" त्ति आयुश्चतुष्टये 'द्विप्रकारः' द्विविकल्पः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवतीत्यर्थः । आयुषो हि उत्कृष्टादिबन्धो वेद्यमानायुषस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एव बध्यमानत्वात् सादिः, अन्तर्मुहूर्ताच्च परमवश्यमुपरमत इत्यध्रुव इति ॥४६॥

चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥४७॥

संज्वलनानां-क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णाम् आवरणनवकस्य-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कलक्षणस्य विघ्नानां पञ्चानां-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानां सम्बन्धी अजघन्यो बन्धः 'चतुर्भेदः', सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतुर्विकल्पो भवति । तथाहि-एतासामष्टादशप्रकृतीनां पूर्वोक्तयुक्तित एवोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनरजघन्यं

बध्नतः सादिस्तद्बन्धः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति सर्वमिह पूर्ववदेव भावनीयम् । एतासामेव प्रकृतीनां "सेसतिगि साइअधुवु" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्योत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टलक्षणे सादिरध्रुवश्च द्विविधो भवति । तथाहि–संज्वलनचतुष्टयस्य क्षपकाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थाने आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यो बन्धो ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यः । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, तत ऊर्ध्वं न भवतीत्यध्रुवः । उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेष्वप्यारोहणावतरणे कुर्वतां जन्तूनां साद्यध्रुवत्वं तथैव भावनीयमिति ।

"तह चउहा सेसपयडीणं" ति 'शेषप्रकृतीनां' भणिताष्टादशप्रकृतिभ्य उद्धरितानां द्व्युत्तरशतसङ्ख्यानां प्रकृतीनां चतुर्धा उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणश्चतुर्विकल्पः "तह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—निद्रापञ्चक–मिथ्यात्व–प्रथमद्वादशकषाय-भय-जुगुप्सा–तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघुउपघात-निर्माणलक्षणानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धबादरपर्याप्तैकेन्द्रियो जघन्यस्थितिबन्धं विदधाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं संक्लिष्टो भूत्वा अजघन्यबन्धं करोति, ततस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा विशुद्धिमासाद्य पुनरपि स एव जघन्यबन्धं निर्मापयतीत्येवं जघन्याऽजघन्ययोः परावृत्तिर्भवतीति द्वावप्येतौ जघन्याऽजघन्यौ सादि-अध्रुवौ भवतः । उत्कृष्टं बन्धं पुनरेतासां सर्वसंक्लिष्टपञ्चेन्द्रियो विदधाति, अन्तर्मुहूर्ताच्च पुनरपि अनुत्कृष्टबन्धं विरचयति, ततः पुनरपि कदाचिदुत्कृष्टमित्येवं परावृत्तिवशत एतावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । शेषाणामध्रुवबन्धिनीनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विका--ऽऽहारकद्विक-संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्टय-जिननाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम-पराघात-त्रसदशक -स्थावर-दशक-उच्चैर्गोत्र-नीच्चैर्गोत्र-साता–ऽसातवेदनीय–हास्य--रति-अरति-शोक-वेदत्रिका ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणानां त्रिसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यादिस्थितिबन्धः सर्वोऽप्यध्रुवबन्धित्वादेव सादिरध्रुवश्चे ति ॥४७॥

निरूपिताः स्थितिबन्धे साद्यादिभङ्गाः । अधुना स्थितिमेव सामान्यतो गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥

प्राकृतत्वान्निर्देशस्य सास्वादनमादौ यस्य तत् सास्वादनादि, अपूर्वकरणमन्ते यस्य गुणस्थानककदम्बकस्य तद् अपूर्वान्तम् , सास्वादनादि च तद् अपूर्वान्तं च सास्वादनाद्यपूर्वान्तं तस्मिन् सास्वादनाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानककदम्बकेऽतराणां–सागरोपमाणाम् अन्तर्-मध्ये कोटीकोटी अतरान्तःकोटीकोटी तस्या अतरान्तःकोटीकोटीतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः, 'न'

नैवाऽधिको बन्धो भवति, किन्तु, मिथ्यादृष्टेरेव भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते । इदमुक्तं भवति— सास्वादनादिनामपूर्वकरणान्तानां भिन्नग्रन्थिकत्वात् सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपैव स्थितिर्बु ध्यते, न तु परतोऽपि । ननु भिन्नग्रन्थिकानप्याश्रित्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः कर्मप्रकृत्यादिषु निरूपितः तत् कथमुच्यते भिन्नग्रन्थिकत्वादन्तःकोटीकोटीरूपैव स्थितिर्बु ध्यते न परतोऽपि ? सत्यम् , अस्ति भिन्नग्रन्थिकानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः, केवलं परित्यज्य सम्यक्त्वं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं प्राप्तानामेवासौ सम्भवति, अत्र तु भिन्नग्रन्थिकानां सास्वादनादीनामेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीपरतः स्थितिबन्धो निषिध्यत इत्यदोषः । यत् पुनः "[1]बंधेण न वोलइ कयाई" इति वचनाद् आवश्यकादिषु भिन्नग्रन्थिकस्य मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्टः स्थितिबन्धः प्रतिषिध्यते तत् सैद्धान्तिकमतमेव । कार्मग्रन्थिकाभिप्रायतस्तु भिन्नग्रन्थिभिर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टाऽपि स्थितिर्बध्यते, केवलं तथाविधतीव्रानुभागयुक्ताऽसौ न भवति ।

ननु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः समर्गलतरः सास्वादनादीनां बन्धो मा भूद् अधस्तात् ततो भवति वा न वा ? इत्याह—'न हु' नैव 'हीनः' न्यूनः सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः सकाशात् स्थितिबन्धो भवति । एतदुक्तं भवति—सास्वादनादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाणैव स्थितिर्भवति, नाधिका नाप्यूनेत्यर्थः ।

ननु यदा एकेन्द्रियादिः सास्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमत्र्यादिसप्तभागरूपमेव स्थितिबन्धं विधत्ते, अतः सास्वादनाद्यपूर्वान्तेषु न हु हीनो बन्ध इति कथं घटाकोटीमाटीकते ?, सत्यमेतत् , केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति सम्भावयामि ।

अपूर्वकरणात् परतोऽनिवृत्तिकरणादौ सागरोपमान्तःकोटीकोटीतोऽपि हीनः स्थितिबन्धो भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते ।

अथ किं सास्वादनादिष्वेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीतो हीनः स्थितिबन्धो न लभ्यते ? आहोश्विन्मिथ्यादृष्टेरपि प्रतिविशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तोः ? इत्याह—"न य मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि" त्ति 'न च' नैव "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टौ, संज्ञिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् भव्यश्चासौ संज्ञी च भव्यसंज्ञी तस्मिन् भव्यसंज्ञिनि, इतरश्च—अभव्यः स चासौ संज्ञी चेतरसंज्ञी तस्मिन्नितरसंज्ञिनि अभव्यसंज्ञिनीत्यर्थः, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो भवति । भव्यसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ग्रहणाद् भव्यसंज्ञिनः कस्मिंश्चिद् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिबादरादौ हीनोऽपि बन्धो भवतीत्याचष्टे । संज्ञिग्रहणा[2]च्चाऽभव्येऽप्यसंज्ञिनि हीन एव, प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव प्रागसंज्ञिनः प्रतीत्य स्थितेर्भणनात् । अभव्यसंज्ञिनि तु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो बन्धो

---

१ बन्धेन न अतिक्रामति कदाचित् ॥ २ त० च्च भव्येऽप्य० ॥

न भवत्येव, यतो भिन्नग्रन्थिकस्यैव हीनो बन्धः स्यात्, अभव्यसंज्ञी चोत्कृष्टतोऽपि ग्रन्थिप्रदेशमेवाभ्येति, तदनन्तरं ग्रन्थिं प्राप्य भूयोऽपि निवर्तते, निवर्त्य च प्रभूतं स्थितिबन्धं करोतीति ॥४८॥

निरूपितः सर्वगुणस्थानकेषु स्थितिबन्धः । साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजीवानाश्रित्य स्थितिबन्धानामेवाल्पबहुत्वं गाथात्रयेणाह—

जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो ।
एसिं अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४९॥

सर्वस्तोको यतिलघुबन्धो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थः, सूक्ष्मसम्पराये आन्तर्मौहूर्तिक एव भवतीति कृत्वा १ । ततो यतिलघुस्थितिबन्धाद् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसङ्ख्यातगुणः २ । ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः "अहिगु" त्ति विशेषाधिकः ३ । ततः "एसिं" ति अनयोर्बादर-सूक्ष्मयोरपर्याप्तयोः "लघु" त्ति जघन्यस्थितिबन्धोऽधिको वाच्यः । अयमर्थः—ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धाद् बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः ४, ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः ५ । "सुहुमेयरअपजपज्ज गुरु" त्ति ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य "गुरु" त्ति उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ६, ततः "इयर" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ७, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ८, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ९ ॥४९॥

लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥

ततः "लहु" त्ति 'लघुः' जघन्यः स्थितिबन्धः "बिय" त्ति द्वीन्द्रिये "पज्ज" त्ति पर्याप्ते वाच्यः । कियत्प्रमाणः ? इत्याह—"संखगुणो बियअमणपज्जे" इति वचनात् सङ्ख्यातगुण इत्यर्थः । ततस्तस्मिन्नेवापर्याप्तेऽधिको लघुः स्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तेतरद्वीन्द्रिये गुरुः स्थितिबन्धोऽधिको वाच्यः । एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण "ति" त्ति त्रीन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, त्रीन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते द्वौ गुरुस्थितिबन्धौ वाच्यौ । "चउ" त्ति चतुरिन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, चतुरिन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ । "असन्निसु" त्ति असंज्ञिनि पर्याप्ता-ऽपर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, असंज्ञिनि एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ । किंप्रमाणाः पुनरेते स्थितिबन्धा वाच्याः ? इत्याह—"अहिगु" त्ति 'अधिकाः' विशेषाधिका वाच्याः । किं सर्वेऽपि स्थितिबन्धा विशेषाधिका एव वाच्याः ?

उताहो कुत्रचिदस्ति विशेषोऽपि ? इत्याह--"नवरं संखगुणो वियअमणपज्जे" त्ति 'नवरं' केवलमियान् विशेषः, सङ्ख्यातगुणो वाच्यः, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वीन्द्रिये पर्याप्ते असंज्ञिनि पर्याप्ते, अन्यत्र सामर्थ्यात् सर्वत्र विशेषाधिक इति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-बादरपर्याप्तैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः १० ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ११ ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १२ ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १३ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १४ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १५ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १६ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १७ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १८ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १९ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २० ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २१ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्यातगुणः २२ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २३ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २४ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २५ ॥५०॥

तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

ततो यतेः--संयतस्य ज्येष्ठो बन्धः सङ्ख्यातगुणः, ततो देशविरतस्य 'ह्रस्वः' जघन्यः 'इतरः' उत्कृष्टः, ततः "सम्मचउ" त्ति सम्यग्दृष्टेश्चत्वारः स्थितिबन्धाः क्रमेण भवन्ति। तद्यथा--अविरतसम्यग्दृष्टेः पर्याप्तस्य जघन्यस्तस्यैव चोत्कृष्टः स्थितिबन्ध इति द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि द्वौ, मिलिताश्चत्वार इति। "सन्निचउरु" त्ति संज्ञिनां-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामिति सामर्थ्याद् गम्यते चत्वारः स्थितिबन्धाः, तद्यथा-संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ एव स्थितिबन्धाविति सर्वे चत्वारः। एते प्रदर्शितरूपाः सर्वेऽपि स्थितिबन्धा यथा यावद्गुणा भवन्ति तदाह-"ठिइबंधाणुकम संखगुण" त्ति स्थितीनां बन्धाः स्थितिबन्धाः-प्रदर्शितरूपाः 'अनुक्रमेण' उत्तरोत्तरपरिपाट्या 'सङ्ख्यगुणाः, सङ्ख्येयगुणा भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्-पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् यतेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २६ ततो देशविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २७ ततो देशविरतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २८ ततोऽविरतापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २९ ततः पर्याप्ताविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३०

ततोऽपर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३१ ततः पर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३२ ततोऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३३ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३४ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३५ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिवन्धः सङ्ख्येयगुणः ३६ ॥ अथैतद्गाथात्रयोक्ताल्पबहुत्वपदानां सुखावबोधार्थं विनेयजनानुग्रहाय यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

एकोनपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य जघन्यः स्थितिवन्ध सर्वस्तोकः १	बादरप० एकें० ज० स्थि० असंख्यातगुणः २	सूक्ष्मप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिक ३	बादराप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिकः ४	सूक्ष्माप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिक ५
	बादरप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ९	सूक्ष्मप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः ८	बादराप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक. ७	सूक्ष्माप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ६

पञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

द्वीन्द्रियप० ज० स्थि० संख्येयगुण १०	अप० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १२	पर्या० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक. १४	अप० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक० १६
अप० द्वीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिकः ११	पर्या० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः १३	अप० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक १५	पर्या० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १७
पर्या० चतुरि० ज० स्थि० विशेषाधिक १८	अप० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २०	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्यातगुण. २२	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २४
अप० चतुरि० ज० स्थि० विशेषाधिक० १९	पर्या० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २१	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० विशेषाधिक. २३	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २५

एकपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य उत्कृष्ट स्थितिवन्ध. संख्येयगुण. २६	देशवि० ज० स्थि० संख्येयगुण २७	अविरतापर्या० ज० स्थि० संख्येयगुण २९	अप० अविर० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३१	अप० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुण० ३३	संज्ञिपञ्चे अप० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३५
	देशवि० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण० २८	पर्या० अवि० ज० स्थि० संख्येयगुण. ३०	पर्या० अविर० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण ३२	पर्या० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुण ३४	पर्या० संज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३६

अत्र च विशेषानिर्देशेऽपि संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धादारभ्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् ये केचन स्थितिबन्धा निरूपितास्ते सर्वेऽपि सागरोपमान्तः कोटीकोटीप्रमाणा एवावसेयाः, कर्मप्रकृत्यादिषु तथैवोक्तत्वात् । सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेः पर्याप्तस्यैव भवति नान्यस्य, " 'सव्वाण वि पयडीणं, उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं" (पञ्चसं० गा० २७०) इति वचनात् ॥५१॥

तदेवं स्थितिबन्धस्याल्पबहुत्वद्वारेण स्वामिनश्चिन्तिताः । अधुना कर्मस्थितेरेव शुभा-ऽशुभप्ररूपणां प्रत्ययप्ररूपणागर्भामाह—

सव्वाण वि जिट्ठ ठिई, असुभा जं साऽइसंकिलेसेणं ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥ ५२ ॥

'सर्वासामपि' शुभानामशुभानामपि कर्मप्रकृतीनां 'ज्येष्ठा स्थितिः' उत्कृष्टा स्थितिः 'अशुभा' अप्रशस्ता, कुतो हेतोः ? इत्याह—"जं साऽइसंकिलेसेणं" ति 'यद्' यस्मात् कारणात् 'सा' ज्येष्ठा स्थितिः 'अतिसंक्लेशेन' अत्यन्ततीव्रकषायोदयेनोत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानकेन जन्तुभिर्बध्यत इति शेषः । ननु कैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरियमुत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते ? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञानावरणादिकर्मणः सर्वजघन्याया अपि स्थितेर्निर्वर्तकानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतैश्च सर्वैरप्येकैव जघन्या स्थितिर्नानाजीवानाश्रित्य जन्यते, पृथगनेकशक्त्युपेतबहुपुरुषैर्वारकवारकेण निर्वर्त्यमानकटाद्येककार्यवत् । ततः समयोत्तरां स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यन्यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, केवलं पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानि । ततो द्विसमयोत्तरां स्थितिं निर्वर्तयन्ति यानि तान्यनन्तरेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, त्रिसमयाधिकां तु तां यानि निर्वर्तयन्ति तान्यमीभ्योऽपि विशेषाधिकानि, तामेव चतुःसमयाधिकां यानि निर्वर्तयन्ति तानि तेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, एवं तावन्नेयं यावत् सर्वोत्कृष्टां स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्योऽन्यानि विशेषाधिकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना— किन्त्वस— तत्र प्रथमपङ्क्तावप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि द्रष्टव्यानि, त्कल्पनया चतुःसङ्ख्यात्वेन दर्शितानि, द्वितीयादिपङ्क्तिषु तान्येव विशेषाधिकानीति पञ्चादित्वेन दर्शितानि । एताश्चैवं पङ्क्तयो जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा

१ सर्वासामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टां सज्ञिनः कुर्वन्ति स्थितिम् ॥

स्थितिस्तावत्समया भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्ये या द्रष्टव्याः, असत्कल्पनया च पञ्च दर्शिताः।

तत्रैतत् स्यात्—इहैकस्थितिजनकान्यप्यध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयानि परस्परं विचित्राण्यभ्युपगम्यन्ते, तद्वैचित्र्याभ्युपगमे च स्थितेरपि वैचित्र्यं प्राप्नोतीति, तदयुक्तम्, तानि ह्येकस्थितिजनकान्यपि सन्ति क्षेत्र-काला-ऽनुभाग-योगादिवैचित्र्याद् विचित्राण्युच्यन्ते, न स्थितिमाश्रित्य, तेषामेकस्थितिजनकाविशेषेण वैचित्र्यासिद्धेरित्यलमप्रस्तुतेन। प्रस्तुतमुच्यते—इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, तेषामेवाद्यमीषदुच्यते, उभयान्तरालवर्तीनि तु मध्यमानि, ततश्चैतैरीषन्मध्यमोत्कृष्टैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते। अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, शेषाणि तु चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि ईषन्मध्यमान्युच्यन्ते, तैश्चरमपङ्क्तिनिदर्शितैः सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकैः सर्वैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्जन्यत इति भावः। यदुक्तं बृहच्छतके ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे—

[1]उक्कोससंकिलेसेण ईसिमह मज्झिमेणावि॥ (गा० ६२)

ततश्चायं प्रस्तुतार्थः-सर्वासामपि प्रकृतीनां ज्येष्ठा स्थितिरशुभा, यस्मात् साऽतिसंक्लेशेनात्यन्ततीव्रकषायोदयेन बध्यते। एतदुक्तं भवति-सर्वासां शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां स्थितयः संक्लेशवृद्धौ वर्धन्ते तदपचये तु हीयन्त इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां संक्लेशमेव स्थितयोऽनुवर्तन्ते इत्यशुभाः, अशुभकारणनिष्पन्नत्वात्, अशुभवृक्षाशुभफलवत्। नन्वेवं तर्हि "ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ" (शत० गा० ९९) इति वचनाद् अनुभागोऽपि कषायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वाद् अशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतः सत्यपि हि कषायजन्यत्वे कषायवृद्धावनुभागोऽशुभप्रकृतीनामेव वर्धते शुभानां तु परिहीयत एव, कषायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीनां तु हीयत इति न कषायमनुवर्तते।

स्थितयस्तु शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां कषायवृद्धौ नियमाद् वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कषायान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाद् अशुभा एवेति। यदि वा यथा यथा शुभप्रकृतीनां स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्सम्बन्धी हीयते, परिगालितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्माणि भवन्तीत्यर्थः, अशुभप्रकृतीनां तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभानुभागक्षयहेतुत्वाद् अशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति।

---

१ उत्कृष्टसंक्लेशेन ईषदथ मध्यमेनापि॥

ननु ज्येष्ठा स्थितिः संक्लेशेन वध्यते, जघन्या तु किंप्रत्यया ? इत्याह—"इयरा विसोहिओ पुण" त्ति 'इतरा' जघन्या पुनः 'विशोधितः' विशुद्ध्या कषायापचयरूपया वध्यते ।

इदमुक्तं भवति—इह ये ये विवक्षितमूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धकास्तेषां मध्ये यो यः सर्वोत्कृष्टविशुद्धियुक्तः स तत्तद्विवक्षितकर्मस्थितिं जघन्यां बध्नातीति भावः । किं सर्वप्रकृतीनामयमेव न्यायः ? यदुतोत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशेनैव वध्यते अशुभा च भवति, जघन्या पुनर्विशुद्ध्यैव ?, न, इत्याह—"मुत्तु नरअमरतिरियाउं" ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'मुक्त्वा' त्यक्त्वा नरायुरमरायुस्तिर्यगायुः । अयमर्थः—नरा-ऽमर-तिर्यगायुषां स्थितिं मुक्त्वा शेषस्थितीनामेवाऽशुभत्वं द्रष्टव्यम्, एतत्स्थितिः पुनः शुभैव भवतीत्यर्थः, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात् । मनुष्य-तिर्यगायुषोर्हि वृद्धिस्त्रिपल्योपमावसाना, देवायुषस्तु वृद्धिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावसानाऽपि शुभा, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात्, विशुद्धितारतम्यादेव च भवति, अतो मनुष्यतिर्यग्-देवायुःस्थितिः शुभा, शुभकारणप्रभवत्वात्, शुभद्रव्यनिष्पन्नघृतपूर्णादिद्रव्यवदिति । अथवा प्रस्तुतायुष्कत्रयस्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते, स च शुभः, सुखजनकत्वाद् इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थितेः शुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् । किञ्च नरा-ऽमर-तिर्यगाऽऽयुर्लक्षणं प्रकृतित्रयं मुक्त्वा शेषप्रकृतीनां प्रकृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां स्थित्युपचया-ऽपचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिः उत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, सर्वजघन्यसंक्लिष्टस्तु सर्वजघन्यमिति [1]विपरीतं तद् द्रष्टव्यमिति ॥५२॥

सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन कषायरूपेण वध्यत इत्युक्तम्, न च केवलकषायेण स्थितिर्वध्यते किं तर्हि ? योगसहचरितेन, अतस्तं योगं सर्वजीवेष्वल्पबहुत्वद्वारेण चिन्तयन्नाह—

सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥

इह योगो वीर्यं स्थाम इत्यादि पर्यायाः । तथा चाह—

[2]योगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ (पञ्चसं० गा० ३९६)

स च योगस्त्रिधा—मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**—

परिणामा-ऽऽलंबण-गहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं ।
कज्जऽब्भासा-ऽन्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥ (गा० ४)

---

१ स० १-२ त० ०परीतं द्रष्ट० ॥ २ योगो वीर्यं स्थाम उत्साहः पराक्रमस्तथा चेष्टा । शक्तिः सामर्थ्यं चैव योगस्य भवन्ति पर्यायाः ॥

अस्या अक्षरगमनिका–परिणमनं परिणामः, अन्तर्भूतणिगर्थाद् घञ्प्रत्ययः, परिणामापादनमित्यर्थः, आलम्ब्यत इत्यालम्बनं भावेऽनट्प्रत्ययः, गृहीतिर्ग्रहणम्, तेषां साधनं–साध्यतेऽनेनेति साधनं-योगसंज्ञं वीर्यं "करणाधारे" (सिद्ध० ५–३–१२९) इत्यनट्प्रत्ययः । तथाहि–'तेन' वीर्यविशेषेण योगसंज्ञितेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो 'गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणा-ऽपानादिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते, यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणा-ऽपानादिपुद्गलान् विसृजतीति परिणामा-ऽऽलम्बन-ग्रहणसाधनं वीर्यम् । तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन "लद्धनामतिगं"ति लब्धं नामत्रिकं[2] मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । स्यादेतत्—सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षायोपशमिकयादिलब्धिभावेऽपि किमिति क्वचित् स्तोकं क्वचित् प्रभूतं क्वचित् स्तोकतरमित्येवं वैषम्येण वीर्यमुपलभ्यते ? इत्यत आह—"कज्ज" इत्यादि । यदर्थं चेष्टते तत् कार्यं तस्याभ्याशः–अभ्यशनमभ्याशः "अशूट् व्याप्तौ" इत्यस्याभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोगः, कार्याभ्याशः -कार्यस्यासन्नता निकटीभवनमित्यर्थः, तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्यं--परस्परं प्रवेशः--शृङ्खलावयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषः, ताभ्यां कृत्वा विषमीकृताः--सुप्रभूता-ऽल्पा-ऽल्पतरसद्भावतो विसंस्थुलीकृताः[3] प्रदेशा येन वीर्येण तत् कार्याभ्याशा-ऽन्योन्यप्रवेशविषमीकृतप्रदेशम् । तथाहि--येषामात्मप्रदेशानां हस्तादिगतानामुत्पाद्यमानघटादिलक्षणकार्यनैकट्यं तेषां प्रभूततरा चेष्टा, दूरस्थानामंसादिगतानां स्वल्पा, दूरतरस्थानां तु पादादिगतानां स्वल्पतरा, अनुभवसिद्धं चैतत्, अपि च लोष्टादिना निर्घाते सति यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद् वेदनोपजायते तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातकलोष्टादिद्रव्यनैकट्यं तेषां तीव्रतरा वेदना, शेषाणां तु मन्दा मदन्तरा; तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दात्मकं वीर्यमुपजायमानं कार्यद्रव्याभ्याशवशतः केषुचित् प्रभूतमन्येषु मन्दमपरेषु मन्दतमं भवति । एतच्चैवं जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्ध[4]विशेषे भवति नान्यथा, यथा शृङ्खलावयवानाम् । तथाहि–तेषां शृङ्खलावयवानां परस्परं सम्बन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरेऽप्यवयवाः परिस्पन्दन्ते, केवलं केचित् स्तोकमपरे तु स्तोकतरमिति, सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिंश्चलति नापरस्यावश्यम्भावि चलनम्, यथा गो-पुरुषयोः । तस्मात् कार्यद्रव्याभ्याशवशतो जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषतश्च वीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित् प्रभूतमन्येषु स्तोकमपरेषु तु स्तोकतरमित्येवं वैषम्येणोपजायमानं न विरुध्यत इत्यलं विस्तरेण ॥

---

१ कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु-०ह्णाति गृहीत्वा चौदारिकादिरूपतया परिणमयति, तथा प्राणा-ऽपान-भाषा-मनोयोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति गृ० इत्येवरूपः पाठः ॥ २ °क । तद्यथा–मनो° इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥ ३कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु–°शाः जीवप्रदेशा येन जीववी० इत्येवंरूपः पाठः ॥ ४ ०न्धविशेषे सति भव० इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागरूपः प्रत्येकं ग्राह्यः। तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहणं जघन्यस्थितिं च विदधाति योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरपीति स्थितमिति।

"एव ठिइठाणा" इत्यादि। 'एवं' मकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीनां स्थानानि स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः। तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते। कथं पुनरेतानि वाच्यानि? इत्याह—"अपजेयर संखगुण" त्ति प्रथममपर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानि, ततः "इयर" त्ति पर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानीति। कियद्गुणानि पुनरेतानि? इत्याह—सङ्ख्यगुणानि, तत्र सङ्ख्यानं सङ्ख्या तामर्ह(ती)ति सङ्ख्यः, दण्डादिभ्यो यः इति यप्रत्ययः, ततः सङ्ख्यः—सङ्ख्येयः सङ्ख्यात इत्यर्थः गुणः—गुणकारो येषां तानि सङ्ख्यगुणानि, सङ्ख्यातगुणितानीत्यर्थः। किं सर्वपदेषु सङ्ख्यातगुणान्येव? आहोस्विदस्ति कस्मिंश्चित् पदे विशेषः? इत्याह—"परमपजबिए असंखगुण" त्ति 'परं' केवलम् 'अपर्याप्तद्वीन्द्रिये' अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे तानि स्थितिस्थानानि 'असङ्ख्यगुणानि' असङ्ख्यातगुणितानि वाच्यानि। एतदुक्तं भवति—सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि स्तोकानि १ ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि २ ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि ३ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि, एतानि च पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, यत एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति ४ ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसङ्ख्यातगुणितानि पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ६ ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ७ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ८ ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ९ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १० ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ११ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि १२ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १३ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि भवन्ति १४ ॥५४॥ स्थापना—

सूक्ष्मैके० अप० स्थितिस्थानानि स्तोकानि १	सूक्ष्मैके० पर्या० स्थि० स्था० सख्यातगुणानि ३	अप० द्वीन्द्रि० स्थिति० असंख्यातगुणानि ५	त्रीन्द्रि० अप० स्थिति० सख्यातगुणानि ७	चतुरि० अप० स्थिति संख्यातगुणानि ९	असज्ञिपञ्चें० अप०स्थिति० सख्यातगुणानि ११	सज्ञिपञ्चें० अप० स्थि० सख्यातगुणानि १३
बादरैके० अप० स्थि० सख्यातगुणानि २	बादरैके० पर्या० स्थि० संख्यातगुणानि० ४	द्वीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सख्यातगुणानि ६	त्रीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सख्यातगुणानि ८	पर्या० चतुरि० स्थिति सख्यातगुणानि १०	असज्ञिपञ्चे० पर्या० स्थि० सख्यातगुणानि १२	सज्ञिपञ्चे० पर्या० स्थि० सख्यातगुणानि १४

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि। सम्प्रति योगप्रक्रम एवापर्याप्तावस्थायां वर्तमाना जन्तवः प्रतिसमयं यावत्या योगवृद्धया वर्धन्ते तन्निरूपणार्थमाह—

पइखणमसंखगुणविरिय अपज्ज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

"अपज्ज" त्ति 'अपर्याप्ताः' असमर्थितचतुर्थ्यादिपर्याप्तयो जीवा भवन्ति। किंभूताः? इत्याह— 'प्रतिक्षणं' प्रतिसमयं 'असङ्ख्यगुणवीर्याः' असङ्ख्यगुणयोगाः। यथोक्तम्—

[1]सव्वो वि अपज्जत्तो पइखणं असंखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइ।

अपर्याप्तानां योगवृद्धिमभिधाय साम्प्रतं प्राग्दर्शितानि स्थितिस्थानानि यैरध्यवसायैर्जन्यन्ते, ते एकैकस्मिन् स्थितिबन्धे जनकतया यावन्तो भवन्ति तदेतद् निरूपयन्नाह—"पइठिइमसंखलोगसमा" इत्यादि। स्थितिं स्थितिं प्रति-प्रतिस्थिति, वीप्सायां "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" (सिद्ध० ३-१-४०) इत्यव्ययीभावः। ततः स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायास्तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द-मन्दतर-मन्दतमकषायोदयविशेषा भवन्ति। कियन्तो भवन्ति? इत्याह—'असङ्ख्यलोकसमाः' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः। ननु किमेतेऽध्यवसायाः सर्वप्रकृतीनां सर्वस्थितिबन्धेष्वपि तुल्याः? आहोश्विदस्ति कश्चित् प्रतिनियतो विभागः? इत्याह—"अहिया सत्तसु" त्ति "अधिकाः' विशेषाधिकाः 'सप्तसु' आयुर्वर्जसप्तकर्मसु। इयमत्र भावना—ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याः स्थितिबन्धाध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, ततो ज्ञानावरणस्यैव द्वितीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य तृतीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य चतुर्थस्थितौ विशेषाधिकाः, एवं यावदुत्कृष्टस्थितौ विशेषाधिकाः। एवमायुष्कवर्जानां दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणामपि

१ सर्वोऽपि अपर्याप्त. प्रतिक्षणमसख्यगुणया योगवृद्धया वर्धते ॥

द्वितीयादिस्थितिबन्धादारभ्य विशेषाधिकत्वमध्यवसायस्थानानां तावद् नेयं यावदुत्कृष्टः स्वकीयः स्वकीयः स्थितिबन्ध इति। तदायुष्केषु स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायाः कियद्वृद्ध्या भवन्ति ? इत्याह–"आउसु असंखगुण" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वप्यसङ्ख्यातगुणिता अध्यवसाया भवन्ति। तद्यथा–आयुष्काणां चतुर्णामपि जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, तेषामेव द्वितीयस्थितौ अध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव तृतीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव चतुर्थस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, एवमसङ्ख्यातगुणत्वं तावद् नेयं यावदायुषश्चरमस्थितिरिति ॥ ५५ ॥

प्ररूपिताः स्थितिबन्धमाश्रित्य सर्वकर्मणामध्यवसायाः। सम्प्रति यासां प्रकृतीनामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्यानां पञ्चेन्द्रियेषु यावन्तं कालमुत्कृष्टतो बन्धो न भवति तास्तत्कालमानप्रदर्शनद्वारेण गाथाद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

तिरिनरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तेषां "ति" त्ति त्रिकं तच्च "जोय" त्ति उद्योतं च तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानि तेषां तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानाम्। इह त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततस्तिर्यक्त्रिकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-तिर्यगायुर्लक्षणम्, नरकत्रिकं–नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुःस्वरूपम्, उद्योतम् इत्येतासां सप्तप्रकृतीनाम्। किम् ? इत्याह—"नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ" ति नराणां–मनुष्याणां भवाः–जन्मानि नरभवास्तैर्युतं–सहितं नरभवयुतं, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, सह चतुर्भिः पल्योपमैर्वर्तत इति सचतुःपल्यं "तेसट्ठ" ति त्रिषष्ट्यधिकं शतमतराणाम् कोऽर्थः ? नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमशतं पञ्चेन्द्रियेषु परमाऽबन्धस्थितिरासां प्रस्तुतसप्तप्रकृतीनां भवतीति द्वितीयगाथोत्तरार्धेन सम्बन्धः कार्यः।

अयमभिप्रायः–यदा किल कश्चिद् जन्तुस्त्रिपल्योपमायुष्केषु देवकुर्वादिषु युगलधार्मिकेषु समुत्पन्नस्तत्र चैताः-सप्त प्रकृतीर्न बध्नाति, एता हि नारक-तिर्यक्प्रायोग्या एव बध्यन्ते, युगलधार्मिकाश्च देवप्रायोग्या एव बध्नन्ति, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य पल्योपमस्थितिषु देवेषूत्पन्नस्तत्रापि सम्यक्त्वप्रत्ययादेता न बद्धवान्, ततोऽपरिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य दीक्षामनुपाल्य नवमग्रैवेयके त्रिदश एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः समुत्पन्नः, ततोऽन्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्वं जगाम, अग्रे षट्षष्टिद्वयं सम्यक्त्वकालो वक्तव्यः, स चात्र सम्यक्त्वावस्थाने सति न सङ्गच्छत इति मिथ्यात्वगमनमभिधीयते, तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैताः प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यग्दर्शनमवाप्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य

सर्वविरतिं परिपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तमुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयषट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । इह च सम्यक्त्वात् प्रच्युतस्य मिश्रगमनं यद् उच्यते तत् **कार्मग्रन्थिका**भिप्रायेण सम्मतमेवेति, **सैद्धान्तिकानां** तु न सम्मतमिति । उक्तं च—

[1]मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु ।
मिसाओ वा दोसुं, सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ (बृहत्क० भा० गा० ११४) इति ।

सर्वत्र च सम्यग्दर्शन-मिश्रयोर्वर्तमान एताः प्रकृतीर्न बध्नातीत्यनेन क्रमेणासां तिर्यक्त्रिक-नरकत्रिक-उद्योतलक्षणसप्तप्रकृतीनां नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतं परमा-प्रकृष्टा पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः—अबन्धकाल इति । उक्तं च

[2]पलियाइं तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चयं पलियमेगं ।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरईण ॥
मिच्छी भवपच्चयओ, गेविज्जे सागराइँ इगतीसं ।
अंतमुहुत्तूणाइं, सम्मत्तं तम्मि लहिऊणं ॥
विरयनरभवंतरिओ, अणुत्तरसुगे उ अयर छावट्ठी ।
मिस्सं मुहुत्तमेगं, फासिय मणुओ पुणो विरओ ॥
छावट्ठी अयराणं, अच्चुयए विरयनरभवंतरिओ ।
तिरिनिरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबंधम्मि ॥

स्थावरचतुष्कं—स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त साधारणलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, विकलाः—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः, आतपम् एतेषां द्वन्द्वः, तेषु, एतासु नवसु प्रकृतिषु पञ्चाशीत्यधिकं शतं पञ्चाशीतिशतम् "अतर" त्ति न तीर्यन्ते बहुकालतरणीयत्वाद् 'अतराणि' सागरोपमाणि, षष्ठ्यर्थे चात्र प्रथमा, यतः प्राकृते हि विभक्तीनां व्यत्ययोऽपि भवति, यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति, तेषामतराणां "नरभवयुतं सचतुःपल्यम्" इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततश्चतुःपल्योपमाधिकं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं नरभवयुतमासामबन्धस्थितिः परमा । अयमर्थः—यथा किल कश्चिद् जन्तुस्तमो-

---

१ मिथ्यात्वात् सङ्क्रान्तिरविरुद्धा भवति सम्यक्त्वमिश्रयोः । मिश्राद्वा द्वयोः सम्यक्त्वाद् मिथ्यात्वं न पुनर्मिश्रम् ॥ २ पल्यानि त्रीणि भोगावनौ भवप्रत्ययं पल्यमेकम् । सौधर्मे सम्यक्त्वेन नरभवे सर्वविरत्या ॥ मिथ्यात्वी भवप्रत्ययाद् ग्रैवेयके सागराणि एकत्रिंशत् । अन्तमुहूर्त्तोनानि सम्यक्त्वं तस्मिंल्लब्ध्वा ॥ विरतिमन्नरभवान्तरितोऽनुत्तरसुरस्त्वतराणि षट्षष्टिम् । मिश्रं मुहूर्त्तमेकं स्पृष्ट्वा मनुष्यः पुनर्विरतः ॥ षट्षष्टिमतराणां अच्युते विरतिमन्नरभवान्तरितः । तिर्यङ्-नरत्रिक-उद्योतानां एष कालोऽबन्धे ॥

ऽभिधानायां षष्ठपृथिव्यां द्वाविंशतिसागरोपमाणि भवप्रत्ययादेताः प्रकृतीरबद्ध्वा पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येषूत्पद्य देशविरतिमासाद्य चतुःपल्योपमस्थितिषु देवेषु देवत्वमनुभूयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषूत्पद्य सम्पूर्णं संयमं परिपाल्य नवमग्रैवेयक एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः सुरसद्मजन्मा समजनि, तत्र चान्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्वं जगाम, पुनरेव तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैताः प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमवाप्याऽप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिमनुपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकालं पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं सम्यक्त्वकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवं नरजन्मसहितं चतुःपल्योपमाधिकं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतमासां स्थावरचतुष्टय-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियजाति-आतपलक्षणानां नवानां प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः परमा भवति ।

तथा चावाचि—

[1]छट्ठीए नेरइओ, भवपच्चयओ उ अयर बावीसं ।
देसविरओ उ भविउं, पलियचउक्कं पढमकप्पे ॥
पुव्वुत्तकालजोगो, पंचासीयं सयं सचउपल्लं ।
आयवथावरचउविगलतियगएगिन्दिय अबंधो ॥ इति ॥ ५६ ॥

अपढमसंघयणागिइखगईअणमिच्छदुभगथीणतिगं।
निय नपु इत्थि दुतीसं, पणिंदिसु अबंधठिइ परमा ॥५७॥

अप्रथमशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अप्रथमसंहननानि-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तसंहननलक्षणानि पञ्च, अप्रथमा आकृतयः-संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डस्वरूपाणि, अप्रथमखगतिः—अप्रशस्तविहायोगतिः, "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणाश्चत्वारः, मिथ्यात्वम्, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दुर्भगत्रिकं—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयस्वभावम्, स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपम्, "निय" त्ति नीचैर्गोत्रं "नपुंसकवेदः स्त्रीवेद इति, एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां नरभवसहितं "दुतीसं" ति द्वात्रिंशं शतमतराणां भवतीति शेषः । एतदुक्तं भवति—कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं

१ षष्ठ्या नैरयिको भवप्रत्ययात् त्वतराणि द्वाविंशतिः । देशविरतस्तु भूत्वा पल्यचतुष्कं प्रथमकल्पे ॥ पूर्वोक्तकालयोग. पञ्चाशीतं शतं सचतुष्पल्यम् । आतपस्थावरचतुर्विकलत्रिकैकेन्द्रियाणामबन्ध ॥

सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवमेतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यक्त्वादियुक्तस्य विजयादिगमनक्रमेण द्वात्रिंशं शतं ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

[1]पणवीसाइ अबन्धो, उक्कोसो होइ सम्मगुणजुत्ते ।
बत्तीसं सयसयराण हुंति अहिया मणुस्सभवा ॥

एवमेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां विचित्रोऽबन्धकालः प्रतिपादितः सम्प्रति स एव यथाभूतो येषु जीवेषु भवतीत्येतदाह—"पणिंदिसु" इत्यादि । 'पञ्चेन्द्रियेषु' प्रदर्शितेष्वेव नर-नारकादिषु 'अबन्धस्थितिः' अबन्धनाद्धा 'परमा' प्रकृष्टोत्कृष्टा, न तु सर्वजीवेषु । उक्तं च—

[2]एयासिं पयडीणं, अबन्धकालो उ होइ सन्निस्स ।
उक्कोसो विन्नेओ, न उ सव्वजियाण एस विही　　॥ इति ॥५७॥

साम्प्रतं पूर्वोदितद्वात्रिंशदधिक-त्रिषष्ट्यधिक-पञ्चाशित्यधिकाऽतरशतसङ्ख्यापूरणोपायमाह—

विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

"दहिसय" त्ति उकारलोपाद् उदधिशतं—सागरोपमशतम्, ततः प्रत्येकमुदधिशतशब्दस्य सम्बन्धः कार्यः । ततश्चायमर्थः—विजयादिषु गतस्य जीवस्येति शेषः, द्वात्रिंशमुदधिशतं भवति । तथा ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं भवति । तथा "तमाइ" त्ति तमःप्रभायां षष्ठपृथिव्यां ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतं भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितसंज्ञितेषु चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयगमनेन एका षट्षष्टिः, ततः सम्यग्मिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयगमनेनान्या षट्षष्टिः,

यदाह **भाष्यसुधाम्भोधिः**—

[3]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नऽच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण [4]सव्वद्धा ॥ (विशेषा० भा० गा० ४३६)

एवं च षट्षष्टिद्वयमीलने द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणां विजयादिषु पर्यटतो जन्तोः सम्पद्यत इति । तथा लोकपुरुषस्य ग्रीवायां भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तेषु ग्रैवेयकेषु, जातावे-

---

१ पचविंशत्या अबन्ध उत्कृष्टो भवति सम्यक्त्वगुणयुक्ते । द्वात्रिंशं शतमतराणां भवन्त्यधिका मनुष्यभवा. ॥ २ एतासा प्रकृतीनामबन्धकालस्तु भवति संज्ञिन । उत्कृष्टो विज्ञेयो न तु सर्वजीवानामेष विधिः ॥ ३ द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य त्रयोऽच्युतेऽथवा तानि । अतिरिक्त नरभविकं नानाजीवाना सर्वाद्धा ॥ ४ भाष्ये तु—"सव्वद्ध" ॥

कवचनम् । कोऽर्थः ? यदा नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमरूपां स्थितिमनुभूय ततश्च्युतः पुनः मनुष्येषूत्पद्य इत्यादिप्रागुक्तन्यायेन पुनर्विजयादिगमनेन षट्षष्टिद्वयं पूरयति तदा त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं भवतीति । तथा तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततो नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाणि तदनु विजयादिषु षट्षष्टिद्वयमिति मिलितं पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतमिति । सर्वत्र चान्तरालभाविनरभवाधिकत्वं स्वत एव वाच्यमिति । एवं यासां प्रकृतीनां येषु जन्तुषु सर्वथैव बन्धो न भवति तास्तद्द्वारेण प्रदर्शिताः । सम्प्रति त्रिसप्ततिसङ्ख्यानामप्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमुत्कृष्टं च सततबन्धकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—"सयबन्धो" इत्यादि । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् सुरद्विके-सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे वैक्रियद्विके-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्वरूपे 'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रयं सततं बन्धः सततबन्धः "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सिद्ध० ३-१-१८) इति समासः, यथा विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुरित्यादौ इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—सुरद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य पल्योपमत्रिकं सततबन्धकालः "तित्तीसयरा परमो" (गा० ६२) इति पदात् परमशब्दस्येहाकर्षणात् 'परमः' उत्कृष्टो भवति, यतो युगलधार्मिकेषु वर्तमानो जन्मत आरभ्य देवप्रायोग्यमिदं प्रकृतिचतुष्टयं पल्योपमत्रयं यावत् सततमेव-निरन्तरमेव बध्नातीति भावः, जघन्यतस्तु समयः परावर्तमानत्वादासामपीति ॥ ५८ ॥

समयादसंखकालं, तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५९॥

समयः—अत्यन्तसूक्ष्मः कालांशः, स च समयप्रसिद्धात् पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्रशतवेधोदाहरणाद्वाऽवसेयः, तस्मात् समयादारभ्य समयमादौ कृत्वा एकोत्तरसमयवृद्ध्या तावत्सततं बन्धकालो नेयो यावदसङ्ख्येयकाल इति । तत्रासङ्ख्यः—सङ्ख्यातिक्रान्तः समयपरिभाषितः स चासौ कालश्चासङ्ख्यकालः तम्, सङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिरूपं यावदित्यर्थः । इह च समयशब्देन जघन्यो बन्धकाल उक्तः, स च सर्वत्र मन्तव्यः, क्व ? इत्याह—तिर्यग्द्विके—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपे नीचैर्गोत्रे च द्वन्द्वे च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः । अयमाशयः—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयमिदं जघन्यतः समयमेकं बध्यते, द्वितीयसमये परावृत्त्या तद्विपक्षस्य बन्धसम्भवात् । यदा तु तेजः-वायुषु जन्तुरुपद्यते तदा भवस्वभावादेवातिसंक्लिष्टे नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विके एव बध्नाति, न तद्विपक्षमुच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं वा, अतस्तेजः-वायूनां कायस्थितिरूपमसङ्ख्येयकालं यावदासां तिसृणामपि प्रकृतीनां परमः सततबन्धकालः प्राप्यत इति । "आउ अन्तमुहु" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वपि अन्त-

मुहूर्तमेव कालं यावत् परमः सततबन्धकालः, जघन्योऽपि चैतावानेवेति वक्ष्याम इति ।

तथैकदेशे समुदायोपचाराद् 'औदारिके' औदारिकशरीरविषयेऽसङ्ख्याः—सङ्ख्यातिक्रान्ताः "परट्ट" त्ति परावर्ताः-पुद्गलपरावर्ता वक्ष्यमाणस्वरूपाः परमः सततबन्धकाल इति । इहापि जघन्यतः समयेकं सततबन्धः सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ताः । कथम् ? यतो व्यावहारिकसत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगताः कायस्थित्या इयन्तं कालं तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रिया-ऽऽहारकयोस्तद्विपक्षयोर्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम् । तथा "सायठिई पुव्वकोडूण" त्ति सातस्य-सातवेदनीयस्य स्थितिः—स्थितिबन्धः सततबन्धकालः परमः पूर्वकोटिरूना—न्यूना भवति । इहापि जघन्यतः सातस्य समयमेकं बन्धः सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतस्तु देशोना पूर्वकोटिः सततबन्धः, यतो यः कश्चिन्मानवः पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिकः सर्वविरतिमादाय नवमवर्षे केवलज्ञानमासादयेत् सोऽष्टाभिर्वर्षैरूनां पूर्वकोटिं सातवेदनीयं सततं बध्नाति, केवलिनः सातस्यैव बन्धात् । उक्तं च—

[1]उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबन्धा ॥ (पञ्चाश० १६ गा० ४१) इति ॥५६॥

जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥

पराघातं चोच्छ्वासं च पराघातोच्छ्वासं तस्मिन् पराघातोच्छ्वासे, "पणिंदि" त्ति सूचनात् सूत्रम् , इति कृत्वा पञ्चेन्द्रियजातौ, त्रसेनोपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कं तस्मिन् त्रसचतुष्के-त्रस-बादर-पर्याप्तप्रत्येक-लक्षणे प्रभूतकालनिस्तरणीयत्वाद् जलधय इव जलधयः—सागरोपमाणि, तेषां शतं जलधिशतं "पणसीयं" ति पञ्चाशीत्यधिकं परमः सततबन्धकालो भवति । इह च सचतुः—पल्यमित्यनिर्देशेऽपि सचतुःपल्यमिति व्याख्यानं कार्यम् , यतो यावानेतद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति । पञ्चसङ्ग्रहादौ चोपलक्षणादिना केनचित्कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति । तथा जघन्यत एता अपि समयमेकं बध्यन्ते, सविपक्षत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च । उत्कृष्टतस्तु सचतुःपल्यं पञ्चाशीत्यधिकं जलधिशतं बन्धकालः । कथम् ? षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको द्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभवन्नासां विपक्षबन्धासम्भवादेता एव प्रस्तुतसप्तप्रकृतीर्बद्धवान् , ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यजन्म सम्प्राप्य देशविरतिरत्नं लब्ध्वा चतुःपल्योपमस्थितिकेषु देवेषु सुपर्वत्वमनुभूय अप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णसंयमं च परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको महर्द्धिरमरो भूत्वा उत्पादोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्वं प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोके वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादिषु

१ उपशान्तक्षीणमोहाः केवलिन एकविधबन्धाः ॥

वारद्वयेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति। तस्मादेतेषु तमःप्रभापृथिवीप्रभृतिस्थानेषु पर्यटन् जीवः क्वचिद् भवप्रत्ययात् क्वचिच्च सम्यक्त्वप्रत्ययादेतावन्तं कालमेताः सप्तापि प्रकृतीः सततं बध्नातीति। "बत्तीसं" ति द्वात्रिंशदधिकं जलधिशतमिति गम्यते, परमः सततबन्धकाल इति सम्बन्धः। क्व ? इत्याह–"सुहविहगइ" त्ति शुभविहायोगतिः "पुम" त्ति पुंवेदः 'सुभगत्रिकं' सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम् उच्चैर्गोत्रं "चउरंस" त्ति 'चतुरस्र' समचतुरस्रं प्रथमसंस्थानम्, तत एतेषां समाहारद्वन्द्वः, तत्र इहापि जघन्यतः समयमेकमासां सप्तानां प्रकृतीनां बन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु द्वात्रिंशं जलधिशतं सततबन्धकालो भवति। तथाहि—किल यदा कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकालं प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतदेवलोकगमनेन परिपूरयति तदा सम्यग्दृष्टिर्जन्तुरेता एव बध्नाति, न पुनरेतत्प्रतिपक्षाः, तासां मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकयोर्बन्धव्यवच्छेदादिति ॥६०॥

असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥

सुशब्दः प्रशंसायाम्, न सुः असुः–अप्रशस्त इत्यर्थः। ततोऽसुशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्चासुखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, असुजातयः,-एक–द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणाश्चतस्रः, असुसंहननानि--ऋषभनाराचादीनि पञ्च, अस्वाकृतयः--आकाराः संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलादयः पञ्च, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् आहारकद्विकम्--आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं नरकद्विकं--नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणं "जोयदुगं" ति उद्योतद्विकम् -उद्योता-ऽऽतपलक्षणम् "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति संज्ञागाथायां पठनात्, स्थिरनाम, शुभनाम, "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम, स्थावरदशकं प्रतीतमेव "नपु" त्ति नपुंसकवेदः, स्त्रीवेदः, द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं–हास्य-रति-अरति-शोकलक्षणम् 'असातम्' असातवेदनीयमिति ॥६१॥

समयादन्तमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

एतासां पूर्वोक्तानामसुखगतिप्रभृत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां किम् ? इत्याह--'समयात्' सूक्ष्मकालांशादारभ्य अन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टतोऽपि सततबन्धो न परतोऽपि। किमुक्तं भवति ?— समयप्रमाणो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, यतः समयादन्तर्मुहूर्ताद् वा उत्तरकालनामामध्रुवबन्धित्वेनावश्यं परावृत्तेः सद्भावात् सङ्गच्छत एव यथोक्तकाल इति। तथा "मणुदुगं" ति मनुजद्विकं--मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपं, जिननाम "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम्

औदारिकाङ्गोपाङ्गम्, ततो मनुजद्विकादीनां द्वन्द्वस्तेषु. एतासु प्रकृतिषु विषये त्रयस्त्रिंशदतराणि 'परमः' प्रकृष्टः सततबन्धो निरन्तरं बन्धकाल इति योगः । अत्रापि जिननामवर्जानां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमेकं बन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशदतराणि, यतो बद्धजिननामकर्माऽनुत्तरसुरेषु स्थित एतावन्तं कालमेतदेव प्रस्तुतप्रकृतिपञ्चकं सततं बध्नातीति । ननु किमध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यबन्धकालः समयमात्र एव ? किमुत कासाञ्चिदन्यथाऽपि ? अत आह—"अंतमुहु लहू वि आउजिणे" त्ति 'लघुरपि' जघन्यबन्धोऽपि ह्रस्वबन्धकालोऽपि न केवलममुखगतिप्रभृतीनामुत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणो बन्धकाल इत्यपिशब्दार्थः, आयुःषु चतुर्षु जिननामकर्मणि चेत्यर्थः, "अंतमुहु" त्ति एकदेशे समुदायोपचारात् अन्तर्मुहूर्तलक्षणो न तु समयरूप इति ।

अयमत्र भावार्थः—इह कश्चिज्जन्तुस्तीर्थकरनामबन्धक उपशमश्रेणिमारूढः, तत्र चानिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकत्रये वर्तमानोऽबन्धकः सम्पेदे, ततः श्रेणिं समाप्य प्रतिपतितः पुनरप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तदेव बद्ध्वा तदूर्ध्वं द्वितीयवारं श्रेण्यारोहणेऽबन्धको यदा भवति तदाऽसौ कालो लभ्यते । न च वाच्यं कथमेकस्मिन्नेव भवे वार[1]द्वयश्रेणिकरणम् ? यतः शास्त्रे तस्याभिहितत्वात् । उक्तं च—

[2]एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उव[3]समिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६) इति ।

आयूंषि चत्वार्यपि यावदन्तर्मुहूर्तं तावद् जघन्यतोऽपि बध्यन्ते, ततस्तत्प्रति सुप्रतीत एव यथोक्तकाल इति ॥ ६२ ॥

प्ररूपितः प्रसक्तानुप्रसक्तसहितः स्थितिबन्धः । इदानीमनुभागबन्धस्यावसरः—अनुभागो रसोऽनुभाव इति पर्यायाः । तत्रानुभागस्य किञ्चित् तावत् स्वरूपमुच्यते—इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविपरिवर्ती रागादिसचिवो जन्तुः पृथक् सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति, तत्र च प्रतिपरमाणु कषायविशेषात् सर्वजीवानन्तगुणाननुभागस्याविभागपलिच्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांऽशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्तं च—

[4]बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागंसो न देइ जो अद्धं ।
अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि ॥ (शत० चू० भा० गा० ४५६)

---

१ मुद्रितशतके तु–°द्वय श्रेणिक° इत्येवरूपः पाठ । २ एकस्मिन् भवे द्विकृत्व चारित्रमोहमुपशमयेत् ॥ ३ कर्मप्रकृतौ तु–°समेइ ॥ इत्येवरूपः पाठ. ॥ ४ बुद्धया छिद्यमानोऽनुभागांशो न ददाति योऽर्धम् । अविभागपरिच्छेदोऽस्माविहानुभागबन्धे ॥

तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्यो अनन्तगुणान रसभागान् प्रयच्छति । अन्यस्तु परमाणुस्तानविभागपलिच्छेदानेकाधिकान प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि त्र्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि चतुरधिकानित्यादिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च सर्वजघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशानां परिकल्प्यते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्युत्तरशतरसांशयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अन्येषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्यभिधीयते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि ? सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति तेनैव क्रमेण द्वितीयं रसस्पर्धकमारभ्यते, ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावदनन्तानि रसस्पर्धकानि उत्तिष्ठन्ते ।

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

अयं चानुभागः शुभा-ऽशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां तीव्र-मन्दरूपतया द्विविधो भवत्यतोऽशुभ-शुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो बध्यते येन च मन्दस्तन्निरूपणार्थमाह—

तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत् तीव्र मन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थः । इह घोषातकी पिचुमन्दाद्यशुभवनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भागत्रयावर्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च, तथेक्षु-क्षीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भागत्रयावर्तश्च यथासङ्ख्यं मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जलाद्यसम्बन्धाद् यथा तीव्रो भवति; तथैतेषामेव पिचुमन्दादीनां क्षीरादीनां च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जललवबिन्दु-अर्धचुलुक-चुलुक प्रसृति-अञ्जलि-करक कुम्भ-द्रोणादिसम्बन्धाद् यथा बहुभेदं मन्द-मन्दतरादित्वं प्रतिपद्यते; तथाऽर्धावर्तादयोऽपि रसा यथा जललवादिसम्बन्धाद् मन्द-मन्दतर-मन्दतमादित्वं प्रतिपद्यन्ते तथैवाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकषायवशात् तीव्रत्वं मन्दत्वं चानुविदधतीति । अक्षरार्थोऽधुना विव्रियते—तीव्रो रसो भवति । कासाम् ? इत्याह—"असुहसुहाणं"

ति अशुभाश्च शुभाश्चाशुभ-शुभास्तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथम्? इत्याह—"संकेसविसोहिओ" त्ति संक्लेशश्च विशुद्धिश्च संक्लेश-विशुद्धी ताभ्यां संक्लेश-विशुद्धितः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः यथासङ्ख्यमशुभप्रकृतीनां संक्लेशेन शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्येत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्—अशुभप्रकृतीनां द्व्यशीतिसङ्ख्यानां संक्लेशेन-तीव्रकषायोदयेन तीव्रः—उत्कटो रसो भवति, सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्बन्धविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य उत्कृष्ट-संक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं बध्नातीत्यर्थः; शुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति, शुभप्रकृतिबन्धकानां मध्ये यो यो विशुध्यमानपरिणामः स स तासां तीव्रमनुभागं बध्नातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः । सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते—"विवज्जयओ मन्दरसो" त्ति 'विपर्ययेण' विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दः-अनुत्कटरसो भवति । अयमर्थः—सर्वप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशेनेति । उक्तः संक्लेश-विशुद्धिवशादशुभ-शुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः, अयं त्वेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्धा भवति, अत एकस्थानिकादिरसो यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृतीनां भवति तदाह—"गिरिमहिरय" इत्यादि । गिरिश्च-पर्वतः मही च-पृथिवी रजश्च-वालुका जलं च पानीयं गिरि-मही-रजः-जलानि तेषु रेखाः—राजयस्ताभिः सदृशाः-तुल्या गिरि मही रजः-जल-रेखासदृशास्ते च ते कषायाश्च-सम्परायास्तैररसो भवतीति प्रक्रमः ॥६३॥

कीदृग्? इत्याह—

चउठाणाई असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा[1] ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

चतुःस्थान आदिर्यस्य रसस्य त्रिस्थानिक-द्विस्थानिक-एकस्थानिकपरिग्रहः स चतुःस्थानादिः, कासाम्? इत्याह—"असुह" त्ति इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा ततः 'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनाम् । इयमत्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन प्रभूतकालव्यपदेशादतितीव्रत्वं कषायाणां प्रतिपाद्यते, ततश्च गिरिरेखासदृशैः कषायैरनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थः, सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोषिततडागमहीरेखासदृशैः कषायैरप्रत्याख्यानावरणैर्मनाग्मन्दोदयैरशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वालुकारेखासदृशैः कषायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः । जलरेखासदृशैः कषायैरतिमन्दोदयैः संज्वलनाभिधैर्विघ्नपञ्चकादिवक्ष्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः । उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः,

१ केषुचिदादर्शेषु "०सघाइआवरणा०" इत्येवरूप पाठः ॥

इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह—"सुहऽन्नह" त्ति शुभप्रकृतीनाम् 'अन्यथा' उक्तवैपरीत्येन हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुका-जलरेखासदृशैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो भवति । गिरिरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासां प्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः सम्भवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह—"विग्घदेस(घाइ)आवरणा" इत्यादि । विघ्नानि-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदादन्तरायाणि पञ्च, 'देशघात्यावरणाः' देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः, तद्यथा—मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनावरणास्तिस्र इत्येताः, "पुम" त्ति पुंवेदः, संज्वलनाश्चत्वारः—क्रोध-मान-माया-लोभा इत्येताः सप्तदशप्रकृतयः । किम् ? इत्याह—"इगदुतिचउठाणरस" त्ति स्थानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकस्थान-द्विस्थान-त्रिस्थान-चतुःस्थाना रसा यासां ता एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानरसाः, एताः सप्तदशापि प्रकृतय एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्यन्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेष्वासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ति ? इत्याह—"सेस दुगमाई" इति । 'शेषाः' भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिताः सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते "दुगमाइ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्थानरसाश्चतुःस्थानरसाश्च, शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो बध्यते, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसङ्ख्येयभागेभ्यः परत एव, तत्र च सप्तदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्ति, अतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । ये अपि केवलज्ञान-केवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते, तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति, यत इहासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्लेशस्थानानि भवन्ति, विशुद्धिस्थानान्यपि तावन्त्येव, यथा यान्येव संक्लिश्यमानः संक्लेशस्थानान्यारोहति तान्येव विशुध्यमानोऽवतरति, ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति सोपानस्थानानि अवतरतामपि तावन्त्येव, तथाऽत्रापीति भावः, केवलं विशुद्धिस्थानानि तिरिकाधिकानि । कथम् ? इति चेद् उच्यते—क्षपको येष्वध्यवसायस्थानकेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य संक्लेशाभावात् , अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव भवन्ति,

न संक्लेशस्थानानीति तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि । एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति, अत्यन्तसंक्लेशे तु वर्तमानस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रिय-तैजस-कार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात् सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं विदधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः, मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससम्भव इति ॥६४॥

कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । सम्प्रति शुभा-ऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह—

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

इहैवमक्षरघटना—'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'निम्बवत्' पिचुमन्दवद्, वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा 'शुभानां' शुभप्रकृतीनां रसः शुभः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'इक्षुवत्' इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाद् निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते—यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव 'सहजः' स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ? द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वि-त्रि-चत्वारः, ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग् विभिन्न-विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितास्तेषाम् एकः—एकसङ्ख्यो भागोऽन्ते—अवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तः । स किम् ? इत्याह—एकस्थानिकादिः, आदिशब्दाद् द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसपरिग्रह इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-घोषातकी-प्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजः—अक्वथितः कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितोऽर्द्धावर्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षु-क्षीरादीनां सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्वयप्रमाणः पृथग्भाजने क्वथितोऽर्धावर्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्क-प्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च, शुभप्रकृतीनां तु मधुरो

मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासङ्ख्यमेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः शुभप्रकृतीनां शुभ इति। तुशब्दो विशेषणे, स चैवं विशिनष्टि—यथा सप्तदशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयान्यक्तिव्यक्तत्वाद् असङ्ख्येयानि भवन्ति। तत्र च सर्वजघन्यस्पर्धकरसस्येयं निम्बाद्युपमा, तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्धकं भवति, एवमुत्तरोत्तरक्रमेण प्रवृद्ध-वृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्धकान्यपि भवन्ति। एवं शेषाशुभप्रकृतीनामपि द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयान्यक्तिव्यक्तानि प्रत्येकमसङ्ख्येयानि भवन्ति, तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि, अत उत्तरोत्तरस्पर्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभानां द्वि-त्रि-चतुःस्थानिका रसा इति। तथाहि—अशुभानां निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्माद् अनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकः, ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकः, तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति। शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति। यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्धक एव दृश्यः, तदुत्तरस्पर्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति, एतत् सर्वं पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम्। किञ्च केवलज्ञानावरणादिरूपाणां सर्वघातिनीनां विंशतिसङ्ख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्धकानि सर्वघातीन्येव। देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्धकानि कानिचित् सर्वघातीनि, कानिचिद् देशघातीनि। तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद् देशघातीनि कानिचित् सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव। उक्तं च—

यानि [सर्वघातीनि] रसस्पर्धकानि सकलमपि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं घ्नन्ति, तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवद् निश्छिद्राणि, घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीवनिर्मलानि। उक्तं च—

[1]जो घाएइ[2] नियगुणं, सयलं सो होइ सव्वघाइरसो।
सो निच्छिद्दो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो॥ (पञ्चसं० गा० १९८)

यानि च देशघातीनि रसस्पर्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽवश्यं क्षयोपशमसम्भवात्, तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसङ्कुलानि। तथाहि—कानिचित् कट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसङ्कुलानि, कानिचित् कम्बल इव मध्यमविवरशतसङ्कुलानि, कानिचित् पुनर-

१ यो घातयति निजगुणं सकलं स भवति सर्वघातिरसः। स निश्छिद्रः स्निग्धः तनुकः स्फटिकाभ्रगृहविमलः॥ २ पञ्चसंग्रहे तु "इ सविसयं, सय" इति पाठः॥

तिसूक्ष्मविवरनिकरसङ्कुलानि यथा वासांसि, तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति वैमल्यरहितानि च। उक्तं च—

[1]देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलंसुसंकासो।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य॥ (पञ्चसं० गा० १५९) इति ॥६५॥

प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुभागबन्धः। इदानीमुत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामिनो निरूपयन्नाह—

तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

"इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम आतपनाम इत्येतस्य प्रकृतित्रयस्य "सुरमिच्छ" त्ति सुराः—देवाः मिथ्यादृष्टयः तीव्रमनुभागमुत्कृष्टानुभागं कुर्वन्तीति शेषः। अत्र चाविशेषोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् सुरा ईशानान्ता एव द्रष्टव्याः नोपरितनाः, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतित्रयबन्धासम्भवात्। अयमपि चेशानान्तो देव एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, आतपस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति द्रष्टव्यम्। इदं हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध्या उत्कृष्टरसं जन्यते। साऽपि विशुद्धिर्यद्यधिकतरा गृह्यते तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं मनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नीयात्, न चातपं तत्प्रायोग्यबन्धे बध्यते, एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादेवेत्यालोच्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणोपादानम्।

आह परः—ननु भवत्वेवं, किन्तु मिथ्यादृष्टिदेव एवैतास्तिस्र उत्कृष्टरसाः करोति नान्य इत्यत्र किं निबन्धनम्? अत्रोच्यते—नारकाणां तावदेता एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात् तत्रोत्पत्त्यभावाद् बन्ध एव नागच्छन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यास्तु यावत्यां विशुद्धौ वर्तमानः अयमातपमुत्कृष्टरसं करोति तावत्यां विशुद्धौ वर्तमानाः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यमन्यत् किञ्चित् शुभतरमुपरचयेयुः, यावति च संक्लेशे वर्तमानोऽसावेकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तावति संक्लेशे स्थिता अमी नरकगतिप्रायोग्यं निर्वर्तयेयुः, देवास्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि भवप्रत्ययाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न तु नरकयोग्यमिति तिर्यङ्-मनुष्याणामपि प्रकृतकर्मत्रयोत्कृष्टानुभागबन्धकत्वासम्भवः, सुरा अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्ययोग्यमेव बध्नन्तीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तस्मादीशानान्ता मिथ्यादृष्टिदेवा यदा आतपस्य सर्वलघ्वीं स्थितिमुपकल्पयन्ति तदा तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धा अस्योत्कृष्टानुभागं विदधति, यदा तूत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोः सर्वोत्कृष्टां स्थितिमुपरचयन्ति [2]तदा तयोरुत्कृष्टानुभागं कुर्वत इति स्थितम्। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकल-

---

१ देशविघातित्वादितरः कटकम्बलांशुकसङ्काशः। विविधबहुच्छिद्रभृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्च ॥
२ स० १-२ छा० °दानयोरु°॥

त्रिकं–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणं सूक्ष्मत्रिकं–सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणाख्यं नरकत्रिकं-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुःस्वरूपम् , आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यगायुर्मनुजायुः इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां कौलिकनलकन्यायेन मिथ्यादृष्टिशब्दस्येहाप्यनुकर्षणाद् मिथ्यादृष्टयः तिर्यञ्चश्च नराश्च तिर्यग्-नरास्त एवोत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न देवनारका इत्यर्थः । तथाहि-तिर्यङ्-मनुष्यायुर्वर्जा नवप्रकृतीर्भवप्रत्ययादेव नारका न बध्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषी अप्यत्र भोगभूमियोग्ये उत्कृष्टरसे प्रकृते अतस्ते अमी न बध्नन्ति, कुतस्तेषां तदनुभागबन्धसम्भवः ? तस्मात् संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयस्तिर्यङ्-मनुष्या एतत्प्रायोग्यविशुद्धा एते आयुषी बध्नन्ति, नारकायुषस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टरसं बध्नन्ति, अतिसंक्लिष्टस्यायुर्बन्धनिषेधात् , नरकद्विकं त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टा बध्नन्ति एकं द्वौ वा समयौ यावद् , उत्कृष्टसंक्लेशस्यैतावन्मात्रकालत्वादेव । शेषाणां तु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, सर्वसंक्लिष्टा ह्यमी प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यं निर्वर्तयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति । तथा तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्वरूपं छेदपृष्ठसंहननमित्येतत्प्रकृतित्रयस्य सुरा नारका वा अत्यन्तसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः, न च तद्योग्या एताः प्रकृतयो बध्यन्त इति तद्व्युदासेन देव-नारकाणां ग्रहणम् , ते हि सर्वसंक्लिष्टा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति । इह च "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः" सेवार्तस्येशानादुपरि सनत्कुमारादयो देवा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न त्वीशानान्ताः ते ह्यतिसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव विरचयेयुः, न च तद्योग्यमिदं बध्यत इति ॥६६॥

विउविसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिदिसासुच्च खवगा उ ॥६७॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गाख्यं, सुरद्विकं--सुरगति-सुरानुपूर्वीस्वरूपम् , आहारकद्विकम् - आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं, सुखगतिः -प्रशस्तविहायोगतिः, वर्णचतुष्कं--वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणं, "डमरुकमणिन्यायाद्" इहापि चतुःशब्दस्य सम्बन्धात् तैजसचतुष्कं–तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणाख्यं, जिननाम सातवेदनीयम् "समचउ" त्ति समचतुरस्रं संस्थानम् "परघ" त्ति पराघातनाम त्रसदशकं–त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिस्वभावम् , "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः "सास" त्ति उच्छ्वासनाम उच्चैर्गोत्रम् इत्येतासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं यथासम्भवं 'क्षपकौ' सूक्ष्मसम्पराया-ऽपूर्वकरणलक्षणौ कुरुतः । अपूर्वकरणो मोहनीयमक्षपय-

न्नपि योग्यतया राज्यार्हकुमारराजवत् क्षपक उक्त इति द्रष्टव्यम् । तत्र सातवेदनीय-यशः-कीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमान उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, स्वगुणस्थानशेषसमयेभ्योऽन्येभ्यश्च तद्बन्धकेभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति । शेषाणां त्वेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदसमये वर्तमानस्तीव्रमनुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥६७॥

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥

तमस्तमा—अधःसप्तमनरकपृथिवी तदाधारा नारकास्तमस्तमका उच्यन्ते, अमी उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारको यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणे स्थितो मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तत्र च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति, अन्तरकरणाद् अधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । स्थापना— ००० ०००००० ०००००००० ।तत्राधस्तनस्थितेर्मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये उद्योतस्य तीव्रमनुभागं बध्नाति । इदं हि ०००००००० शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध एवोत्कृष्टरसं करोति, तद्बन्धकेषु स्वयमेव सर्वविशुद्धः, अन्यस्थानवर्ती हि एतावत्यां विशुद्धौ वर्तमानो मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यं वा बध्नीयात् । इदं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितमेव बध्यत इति सप्तमपृथिवीनारकस्यैवोपादानम्, तत्र हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावत् क्षेत्रानुभावत एव तिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्यत एवेति भावः । तथा द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् मनुजद्विकं—मनुजगति—मनुजानुपूर्वीरूपम्, औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर—औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्यम् "वइरं" ति वज्रर्षभनाराचसंहननम् इत्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनां "सम्मसुर" त्ति सम्यग्दृष्टिसुरा अत्यन्तविशुद्धास्तीव्रानुभागमेकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नन्ति । मिथ्यादृष्टेर्हि सम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्ध इति सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् । नारका अपि हि विशुद्धाः सन्त एताः प्रकृतीरुपरचयन्ति, केवलं वेदनानिग्रहविह्वलीकृतत्वाद् अमरवत् प्रकृष्टभावनिबन्धनतीर्थकरादिसमृद्धिसमुदायसन्दर्शन-तद्वचःश्रवण-नन्दीश्वरादिचैत्यदर्शनाद्यसम्भवाच्च तथाविधविशुद्ध्यसम्भवात् तेषामिहाग्रहणम् । तिर्यङ्-मनुष्याणां पुनरतिविशुद्धानां देवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वात् तद्योग्यप्रस्तुतप्रकृतिबन्धासम्भव इति सर्वव्युदासेन सुरस्यैवोपादानम् । तथा 'अप्रमत्तः' अप्रमत्तयतिरमरायुरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अपरेभ्यो देवायुर्बन्धकमिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतादिभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति ।

तदेवं द्विचत्वारिंशतः पुण्यप्रकृतीनां चतुर्दशानां त्वशुभप्रकृतीनां तीव्रानुभागबन्धस्वामिन उक्ताः । साम्प्रतं शेषाणामष्टषष्ट्यशुभप्रकृतीनां बन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—"चउगइमिच्छा उ

सेसाणं'' ति चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयः तुशब्दात् तीव्रोत्कटकषाया जीवाः 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका--ऽसातवेदनीय-मिथ्यात्व--कषायषोडशक--नोकषायनवक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमान्तिमवर्जसंहननचतुष्का-ऽप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-अस्थिरा ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपष्टयशुभप्रकृतीनां तीव्रमुत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति। तत्र हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेद-प्रथमान्तिमवर्जसंस्थान-संहननलक्षणा द्वादश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाः [1]षट्पञ्चाशत्प्रकृतीरुत्कृष्टतत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तास्तीव्रानुभागाः कुर्वन्ति। सर्वोत्कृष्टसंक्लेशो हि तावद् हास्य-रतियुगलमतिक्रम्य अरति-शोकयुगलमेव रचयति, स्त्रीवेद-पुंवेदौ त्वतिक्रम्य नपुंसकवेदं निर्वर्तयति। संस्थान-संहननेष्वपि सर्वसंक्लिष्टो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके हुण्ड-सेवार्ते निर्वर्तयति। ततो विशुद्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके वामन-कीलिके रचयति, ततो विशुद्धतरः षोडशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके कुब्जा-ऽर्धनाराचे बध्नाति, ततोऽपि विशुद्धश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके सादि-नाराचे निर्वर्तयति, ततोऽपि विशुद्धो द्वादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके न्यग्रोधपरिमण्डल-ऋषभनाराचे उपकल्पयति, ततोऽपि विशुद्धो दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके समचतुरस्र-वज्रर्षभनाराचे बध्नाति। तस्मात् प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंस्थानचतुष्टयस्य तथा प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंहननचतुष्टयस्य चात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्ता अमी उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, हीनाधिकसंक्लेशेऽन्यान्यबन्धसम्भवात् तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति भावः। प्रथमा-ऽन्तिमसंस्थान-संहननवर्जनं किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—हुण्डसंस्थानं तावत् ''चउगइमिच्छा उ सेसाणं'' ति गाथावयवे एवाभिहितम्, समचतुरस्रसंस्थानं तु ''विउविसुराहारदुगं'' (गा० ६७) इत्याद्यनन्तरगाथायां भावितम्, वज्रर्षभनाराचसंहननं तु ''सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं'' इत्यत्र निरूपितम्, सेवार्तसंहननं पुनः ''तिरिदुगछेवट्ठसुरनिरया'' (गा० ६६) इत्यत्र भावितमिति पारिशेष्याद् मध्यमसंस्थानचतुष्टयं मध्यमसंहननचतुष्टयं च तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाश्चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो जीवा उत्कृष्टरसं कुर्वन्तीत्युक्तमिति ॥६८॥

अभिहिताः सर्वप्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः। इदानीं सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनश्चिन्तयन्नाह—

थीणतिगं अण--मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥

स्त्यानर्द्ध्या उपलक्षितं त्रिकं स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणम्

---

१ अत्र षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टसंक्लेशेनैव ज्येष्ठानुभागबन्धप्रायोग्यत्वम्। हास्यादिद्वादशप्रकृतीनां तूत्कृष्टसंक्लेशे बन्धाभावेन तत्प्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशेन ज्येष्ठरसबन्धार्हत्वम् परिभावनीयम्।

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः–क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वारः मिथ्यात्वम् इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनां स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः "संजमुम्मुहु" त्ति सम्यक्त्वसंयमाभिमुखः–सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः 'मन्दरसं' जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायचतुष्टयस्य--अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्त्तमानः संयमोन्मुख इत्यत्रापि योज्यम्, संयमाभिमुखः-देशविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धत्वात् । तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य–प्रत्याख्यानावरणकषायलक्षणस्य "देस" त्ति देशविरतः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुखः--सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं करोति, तत्प्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धतरत्वात् । तथा 'प्रमत्तः' प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः--अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः, अरतिश्च शोकश्चाऽरति-शोकं तस्मिन्नरति-शोके अरति-शोकयोर्मन्दरसं विदधाति, इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभत्वात् सर्वविशुद्ध एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥६९॥

अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥

'आहारकद्विकं' आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं न प्रमाद्यति इत्येवंशीलोऽप्रमादी-अप्रमत्तयतिः अनन्तरमेव प्रमत्तभावं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं-जघन्यरसं करोतीति यावत् । इदं हि प्रकृतिद्वयं शुभस्वरूपत्वाद् संक्लिष्ट एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेवातिसंक्लिष्ट इति भावः । तथा 'दुनिद्द' त्ति द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रं-निद्रा-प्रचलालक्षणं "सु" शोभनं "वन्न" त्ति वर्णचतुष्कं न सुवर्णम् असुवर्णम् अप्रशस्तवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णगन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थः, हास्यं रतिः "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा भयम् उपघातम् इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां "अपुव्व" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकापूर्वकरण एकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यानुभागं बध्नाति । एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा "पुरिस" त्ति पुरुषवेदः संज्वलनाः–क्रोध-मान-माया-लोभाश्चत्वार इत्येतस्य प्रकृतिपञ्चकस्यैकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये "अनियट्टि" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकोऽनिवृत्तिबादरो जघन्यानुभागं निर्वर्तयति । एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥७०॥

विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥

विघ्नानि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि पञ्च, आवरणानि—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा ऽवधिज्ञानावरण मनःपर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव इत्येतासां चतुर्दशप्रकृतीनां "सुहुम" त्ति सामान्येनोक्तावपि क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यानुभागं बध्नाति। एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणाख्यं, विकलत्रिकं—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय'जातिलक्षणम्, "आउ" त्ति आयूंषि—देव-मनुष्य-तिर्यङ्-नारकायुर्भेदाच्चत्वारि, वैक्रियषट्कं-देवगति-देवानुपूर्वी--नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां षोडशप्रकृतीनां "मणुतिरिय" त्ति मनुशब्देन मनुष्या उच्यन्ते, ततो मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्य-तिर्यञ्चो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। अत्र हि तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दशप्रकृतीर्देव-नारका भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति। तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयमपि यदा जघन्यस्थितिकं बध्यते तदा जघन्यरसं क्रियते, देव-नारकास्तु तद् जघन्यं न बध्नन्त्येव, तत्स्थितिकेषु तेषामुत्पत्त्यभावात्। तस्माद् नैतत् प्रकृतिषोडशकं देव-नारका बध्नन्ति, अतस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव ग्रहणम्। तत्र नारकायुषोऽशुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा दशवर्षसहस्रलक्षणजघन्यस्थितिबन्धकाले जघन्यानुभागं तिर्यङ्-मनुष्याः कुर्वन्ति, शेषस्य त्वायुस्त्रयस्य शुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा आत्मीयात्मीयसर्वजघन्यस्थितिबन्धकालेऽमी जघन्यानुभागं रचयन्ति। नरकद्विकस्याशुभप्रकृतित्वाद् जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा एते जघन्यानुभागं विदधति। देवद्विकस्य शुभप्रकृतित्वाद् आत्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा अमी जघन्यानुभागं बध्नन्ति। अतिसंक्लिष्टो नरकादियोग्यं बध्नीयादिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वैक्रियद्विकस्यापि शुभप्रकृतित्वाद् नरकगतिबन्धसहितां सर्वोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तो जघन्यानुभागं निर्वर्तयन्ति। विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्त्वशुभप्रकृतित्वात् तत्प्रायोग्यविशुद्धा अमी सर्वजघन्यमनुभागं बध्नन्ति। अतिविशुद्धा मनुष्यादिप्रायोग्यं बध्नन्तीति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति। भाविताः षोडश प्रकृतयः। तथा उद्योतम् औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां "अमरा निरय" त्ति सामान्यतोऽमराः—देवाः, निरयाः—निर्गतम् अयम्—इष्टफलं दैवं कर्म येभ्यस्ते निरयाः—नारकाः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानास्तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्तो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति, केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गमीशानादुपरि-

१ छा० सं० १ त० म० जातिरूपं॥

तनाः सनत्कुमाराद्य एव देवा जघन्यरसं विदधति नेशानान्ताः, ते हि सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, एकेन्द्रियाणां चाङ्गोपाङ्गं न भवति, अत ईशानान्तदेवानां जघन्यरसाङ्गोपाङ्गनामबन्धासम्भवेन तज्जघन्यरसबन्धकत्वासम्भवः । भवत्वेवम्, किन्तु तिर्यङ्-मनुष्याः कस्मादिदं प्रकृतित्रयं जघन्यरसं न कुर्वन्ति ? इति अत्रोच्यते—एतत् प्रकृतित्रयं तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितं जघन्यरसं बध्यते, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव रचयेयुरिति तेषामिहाग्रहणमिति ॥७१॥

तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं ।
आसुहमायव सम्मो, व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

तथा तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपं नीचं—नीचैर्गोत्रम् इत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां तमस्तमा—सप्तमनरकपृथिवी तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमाः, यद्वा तमस्तमो विद्यते येषां ते तमस्तमाः "अभ्रादिभ्यः" (सिद्ध० ७-२-४६) इत्यप्रत्ययः, सप्तमनरकपृथिवीनारका इत्यर्थः, जघन्यानुभागं कुर्वन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये मिथ्यात्वस्य चरमपुद्गलान् वेदयन् प्रकृतित्रयस्य जघन्यानुभागं बध्नाति, अस्य हि प्रकृतित्रयस्याशुभत्वात् सर्वविशुद्धो जघन्यानुभागं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति सम्यक्त्वाभिमुखादिविशेषणोपादानम् । अन्यस्थानवर्ती त्वेतावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकादियुक्तं बध्नीयादिति सप्तमपृथिवीनारकस्यैव ग्रहणम् । अस्यां हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययादेव नीचैर्गोत्रसहचरितस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य एव बन्धो भवतीति । तथा "जिणं" ति जिननाम तीर्थकरनामकर्मेत्यर्थः "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् अविरतसम्यग्दृष्टिः नरके बद्धायुष्को नरकोत्पत्त्यभिमुखोऽनन्तरमेव मिथ्यात्वं प्रतिपित्सुर्मनुष्यस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा । इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना अनुभागबन्धका भवन्ति, किन्तु जघन्यानुभागः शुभप्रकृतीनां संक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति । तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरके बद्धायुष्कस्य ग्रहणम् । क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिद् नरकं प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेन जघन्यानुभागाबन्धकत्वात् तस्यैव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते । अतस्तीर्थकरनामकर्मजघन्यस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति ।

तथा "निरय विणिगथावरयं" त्ति 'निरयान्' नारकान् 'विना' वर्जयित्वा शेषगतित्रयवर्तिनो जीवाः "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम इत्येतत्प्रकृतिद्वयस्य सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं बध्नन्ति। इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभम्, तत्रातिसंक्लिष्टो जन्तुरनयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अतिविशुद्धस्त्विदमुल्लङ्घ्य उत्कृष्टानुभागे पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी बध्नातीत्यालोच्य मध्यमपरिणामग्रहणम्। अयं च मध्यमपरिणामो यदैकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते एकेन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नी बद्ध्वा पुनर्द्वितीयेऽप्यन्तर्मुहूर्ते ते एव बध्नाति तदापि भवति, केवलं तदाऽवस्थितपरिणामे तथाविधा विशुद्धिर्न लभ्यते इति मध्यमपरिणामस्यापि परावर्तमानताविशेषणम्। इदमुक्तं भवति—यदैकेन्द्रियजाति-स्थावरे बद्ध्वा पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी बध्नाति, ते अपि बद्ध्वा पुनरेकेन्द्रियजाति-स्थावरे बध्नाति, तदेवं परावृत्त्य परावृत्त्य बध्नन् परावर्तमानमध्यमपरिणामः तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य जघन्यानुभागं बध्नाति। भवत्वेवम्, तत्रापि नारकवर्जनं किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—नारकाणां स्वभावादेव प्रस्तुत प्रकृतिद्वयबन्धकत्वासम्भवादिति।

तथा "आसुहमायव" त्ति सुधर्मा नाम सभा विद्यते यत्र स सौधर्मः, "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सिद्ध० ७-२-३४) इत्यण्प्रत्ययः, इह च सौधर्मग्रहणेन समश्रेणिव्यवस्थितत्वाद् ईशानोऽपि गृह्यते, ततश्च भवनपत्यादय ईशानपर्यन्ता देवास्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्त आतपनाम जघन्यानुभागं बध्नन्ति। अस्य हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वसंक्लिष्ट एव जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेषु चैत एव सर्वसंक्लिष्टा लभ्यन्ते, तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति संक्लेशे वर्तमाना नारकादिप्रायोग्यं रचयेयुः, नारकाः सनत्कुमारादिदेवाश्च भवप्रत्ययादेव तद् न बध्नन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तदेवानामेव ग्रहणम्।

तथा सातवेदनीयं स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनामेत्येतारश्चतस्रः प्रकृतीः 'सेतराः' सप्रतिपक्षा असातवेदनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामसहिताः सर्वा अष्टौ प्रकृतीः "सम्मो व" त्ति सम्यग्दृष्टिः, वाशब्दात् मिथ्यादृष्टिर्वा, सामान्योक्तावपि परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागाः करोति। कथम्? इति चेद् उच्यते—इह पूर्वं सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटयः उत्कृष्टा स्थितिरभिहिता, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः, तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् परावृत्त्य सातं बध्नाति, पुनरप्यसातमिति। एवं देशविरता-ऽविरतसम्य-

१ स० १-म० वधादि ॥

ग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य साता-ऽसाते बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः साता-ऽसाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटी-लक्षणा ज्येष्ठा स्थितिः, ततः परतोऽपि संक्लिष्टः संक्लिष्टतरः संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवलं तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः; प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्धतराः सातमेव केवलं बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ताः । तदेवं व्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणायाः स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्य परावृत्य बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचितः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्थानकेऽन्तःसागरोपमकोटाकोटीलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थितिः । एतेषु हि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-योग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते, नान्यत्र । तथाहि—येऽप्रमत्तादयः सातमेव केवलं बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूतमनुभागमुपकल्पयन्ति, योऽपि मिथ्यादृष्टिः सातस्योत्कृष्टां स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुपरचयति सोऽप्यतिसंक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतरसमभिनिर्वर्तयति, सागरोपमसप्तभागत्रयादिरूपवेदनीयस्थितिबन्धकेष्वेकेन्द्रियादिष्वपि जघन्यानुभागबन्धो न सम्भवति, तथाविधाध्यवसायाभावात् , तस्माद् यथोक्तस्थितिबन्ध एव जघन्यानुभागबन्धसम्भवः, तथाविधपरिणामसद्भावादिति । अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां त्रिंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता । स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनां तु दशसागरोपमकोटीकोटयः । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणां स्थितिं बध्नाति । ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् विशुद्धः पुनरपि स्थिरादिकाः प्रतिपक्षभूता बध्नाति, ततः पुनरप्यस्थिरादिका इति । एवं देशविरता-ऽविरत-मिश्र सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्याऽस्थिरा-शुभा-ऽयशःकीर्ति-स्थिर शुभ-यशःकीर्तीर्बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः स्थिर-शुभ यशःकीर्तीरस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीश्च परावृत्य तावद् बध्नाति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थितिः एतेषु च सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र । दशसागरोपमकोटीकोटीपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभाः प्रकृतयो बहुरसा बध्यन्ते । अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धाः स्थिरादिकाः शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निर्वर्तयन्तीति नान्यत्र जघन्यानुभाग आसां लभ्यत इति शेषः । भावना तु सातवद् बोद्धव्येति ॥७२॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइगा ॥७३॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रसचतुष्कं—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकाख्यं, वर्णचतुष्कं—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिधं तैजसचतुष्कं—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, द्विकशब्दस्य

प्रत्येकं सम्बन्धाद् मनुजद्विकं—मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपं खगतिद्विकं—प्रशस्तविहायोगति-अशुभविहायोगतिरूपं, पञ्चेन्द्रियजातिः उच्छ्वासनाम पराघातनाम उच्चम्—उच्चैर्गोत्रं संहननानि वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, आकृतयः—आकाराः संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन कुब्ज-हुण्डलक्षणानि षट्, "नपु" त्ति नपुंसकवेदः "थी"ति स्त्रीवेदः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभगत्रिकं—सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम्, 'इतरत्रिकं' दुर्भगत्रिकं—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयलक्षणम्, इत्येतासां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां "मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका जघन्यानुभागं कुर्वन्ति।

इह सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस कार्मण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात—उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि जीवा मिथ्यादृष्टयः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। एता हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशैर्जघन्यरसाः क्रियन्ते। तत्र च तिर्यङ्—मनुष्याः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति। नारका देवाश्चेशानादुपरिवर्तिनः सनत्कुमारादयः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसवर्जाः शेषास्त्रयोदश प्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा विदधतीति। पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी तु विशुद्धा अमी बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यत इति तद्वर्जनम्। स्त्रीवेदनपुंसकवेदलक्षणप्रकृति-द्वयस्य चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जीवा अशुभत्वाद् एतत्प्रकृतिद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा जघन्यानुभागं रचयन्ति। अतिविशुद्धः पुरुषवेदबन्धकः स्यादिति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति।

मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-विहायोगतिद्विक सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेय-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो मध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं कुर्वन्तिः सम्यग्दृष्टीनां ह्येतासां परावृत्तिर्नास्ति, तथाहि—तिर्यङ्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो देवद्विकमेव बध्नन्ति, न मनुष्यादिद्विकानि, संस्थानेषु तु समचतुरस्रमेव रचयन्ति, संहननं तु किञ्चिदपि न बध्नन्ति, तथा शुभविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय उच्चैर्गोत्राण्येव बध्नन्ति न प्रतिपक्षाः। देवा नारका अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्यद्विकमेव बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकादिकम्, संस्थानेषु तु समचतुरस्रसंस्थानमेव, संहननेषु पुनर्वज्रर्षभनाराचसंहननमेव, विहायोगत्यादिका अपि शुभा एव बध्नन्ति न प्रतिपक्षा इति, तेषां परावृत्त्यभावाद् मिथ्यादृष्टि-ग्रहणम्। तत्र मनुष्यगतिद्विकस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वराऽऽदेय-उच्चैर्गोत्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानानां तु दशसा-

गरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । एताः शुभप्रकृतय आत्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह तावत् पराघृत्य परावृत्य बध्यन्ते, यावत् तासामेव प्रतिपक्षप्रकृतीनां सर्व-जघन्याऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु परावर्तमानमध्यमपरिणाम एतासां जघन्यानुभागं बध्नाति । हुण्ड-सेवार्तयोरपि वामन-कीलिकयोरुत्कृष्टस्थितेरारभ्य तावत् परावृत्तिर्लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः । शेषसंस्थान-संहननानामप्यात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य सम्भवदितरसंस्थान-संहननैः सह परावृत्तिस्तावद् लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीय-जघन्यस्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागं बध्नातीति ॥७३॥

प्ररूपिताः सप्रपञ्चं जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः । साम्प्रतमनुभागबन्धमेव मूलोत्तरप्रकृती-रुद्दिश्य भङ्गकैर्विचारयन्नाह—

चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

इह ग्रन्थलाघवार्थं यथातथा प्रकृतयो भङ्गकैर्विचार्यन्ते । तत्र चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तैजसचतुष्कं—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, वर्णचतुष्कम्—अग्रेऽप्रशस्तस्य वक्ष्यमाणत्वादिह प्रशस्तं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं गृह्यते इति, एतासामुत्तरप्रकृतीनामष्टानामनुत्कृष्टः, "इमो चउह" त्ति पदं सर्वत्र योजनीयम् , अयमनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा वेदनीय-नाम्नोर्मूलप्रकृत्योरनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा "सेसधुवबंधि" त्ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततो भणितशेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघाता-ऽन्तरा-यपञ्चकलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा ज्ञान-दर्शन चारित्रलाभादिगुणान् घ्नन्तीत्येवंशीलानि घातीनि—ज्ञानावरण-दर्शनाव-रण-मोहनीया-ऽन्तरायाणि तेषामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि द्विविधोऽनुत्कृष्टा-ऽजघन्यलक्षणो बन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवतीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्— तत्र तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणा-नामष्टानामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति । तथाहि— कर्मणां हि रसो यस्मादन्यो हीनो नास्ति स सर्वजघन्यः, तत ऊर्ध्वमेकं रसांशमादौ कृत्वा यावत् सर्वोत्कृष्टस्तावदजघन्य इत्यनन्तभेदभिन्नोऽप्यसौ जघन्याऽजघन्यप्रकारद्वयेन क्रोडीकृतः; तथा

यस्माद् अन्योऽधिको रसो न बध्यते स उत्कृष्टः, तत एकरसांशहानिमादौ कृत्वा यावत् सर्वजघन्यस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इति; अनेन वा प्रकारद्वयेनानन्ता अपि रसविशेषाः संगृहीताः। तत एतासां प्रस्तुताष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुभागबन्धं क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्याणां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये करोति। एता हि शुभप्रकृतयः, अत एतदुत्कृष्टानुभागं सर्वविशुद्ध एव रचयति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्धः। एतस्मात् पुनरन्यत्रोपशमश्रेणावप्यनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, स चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति ततः प्रतिपतितैर्जन्तुभिर्बध्यमानः सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणां सदाबध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। प्रतिपादितस्तैजसचतुष्क-वर्णचतुष्कलक्षणप्रकृत्यष्टकस्यानुत्कृष्टो बन्धः। शेषबन्धत्रिकस्य तु का वार्ता? इत्याह-"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुभागत्रिके द्विप्रकारः-सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः। तथाहि-अस्य प्रकृत्यष्टकस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽनन्तरमेव क्षपकापूर्वकरणे प्रोक्तः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, एकं च समयं भूत्वाऽग्रेऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः। जघन्यानुभागं त्वेतासां शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति। पुनरपि जघन्यतः समयादुत्कृष्टतः समयद्वयादवश्यं स एवाजघन्यं बध्नाति, पुनः कालान्तरे स एवोत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य जघन्यं बध्नातीत्येवं जघन्या-ऽजघन्येषु परावर्तमानानां जन्तूनामुभयत्र साद्यध्रुवतैवेति।

तथा "वेयणियनामणुक्कोसु" त्ति वेदनीय-नाम्नोरनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति। तथाहि-अनयोः कर्मणोः सात-यशःकीर्तिलक्षणं तदन्तर्गतं प्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टो रसः क्षपक-सूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि अनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, ततश्चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति, ततः प्रतिपतितैर्जन्तुभिर्बध्यमानोऽनुभागः सादिः, उपशान्तमोहाद्यवस्थायां त्वप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अनादिकालाद् बध्यमानत्वाद्, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति। भावितो वेदनीयनाम्नोरनुत्कृष्टो बन्धः। शेषे तु का वार्ता? इत्याह-"सेसम्मि दुह" त्ति एतत् पदं पूर्वसम्बन्धितमप्यावृत्त्याऽत्रापि सम्बध्यते। ततः शेषे-भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणानुभागत्रिके द्विप्रकारः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धो भवति। तथाहि-उत्कृष्टमनुभागबन्धं वेदनीयनाम्नोरनन्तरमेव प्रस्तुतकर्मबन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम्। स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहावस्थायां तु नियमाद् न भविष्यतीत्यध्रुवः। जघन्यानुभागं त्वनयोः कर्मणोः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति, सर्वविशुद्धो

१० छा० सर्वोत्कृष्टसं०॥

ह्ये तत्कर्मद्रव्यग्रहणगृहीतानां सात-यशःकीर्त्यादिलक्षणशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपं शुभरसं कुर्यात्, सर्वसंक्लिष्टस्त्वसात-नरकगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपमशुभरसं कुर्यादिति मध्यमपरिणामग्रहणम्। अयं च जघन्यानुभागोऽजघन्याद् अवतीर्य बध्यत इति सादिः, पुनर्जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयचतुष्टयादजघन्यानुभागं बध्नतो जघन्योऽध्रुवोऽजघन्यस्तु सादिः, पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा जघन्यं बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येवं जघन्या-ऽजघन्यानुभागबन्धयोः परिभ्रमतामसुमतामुभयत्र साद्यध्रुवतैव भवतीति।

तथा "सेसधुवबंधि" त्ति शेषध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-उपघातलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथाहि—मति-श्रुता-ऽवधिमनःपर्याय -केवलावरणपञ्चक—चक्षुः-अचक्षुः—अवधि-केवलदर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-लक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां तावद् अशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वोत्कृष्टविशुद्धिमानिति कृत्वा। ततोऽन्यः सर्वोऽपि उपशमश्रेणावप्यजघन्यः प्राप्यते, स चोपशान्तावस्थायां सर्वथा न भवति, तस्मादितः प्रतिपत्य बध्यमानः सादितां भजते, उपशान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। संज्वलनचतुष्कस्य त्वशुभत्वात्. क्षपकानिवृत्तिबादरो यथास्वबन्धव्यवच्छेदसमये एकैकं समयं जघन्यानुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदे कृते प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादित्वम्, उपशान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वस्यानादित्वम्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। निद्रा-प्रचला-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघात-भय-जुगुप्सालक्षणानां नवप्रकृतीनां क्षपकापूर्वकरणो यथास्वबन्धव्यवच्छेदकाले एकैकं समयं जघन्यमनुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादित्वम्, बन्धाभावस्थानं चाप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति। चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः संयमप्रतिपत्त्यभिमुखोऽत्यन्तविशुद्धः स्वगुणस्थानस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति। तस्मात् पुनः स्थानात् पूर्वं सर्वोऽप्यजघन्यः। चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यक्त्वं संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुरत्यन्तविशुद्धः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नातीति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुः सर्वविशुद्धो मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति, एतस्माच्चान्यत्र सर्वोऽप्यजघन्यः। एते हि देशविरतादयस्तत्तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथानिर्दिष्टकर्मणां जघन्यमनु(ग्रन्थाग्रम्—२५००)भागं बध्नन्ति। ततश्च संयमादीन् गुणान् प्राप्य

पुनरपि प्रतिपत्य यदाऽजघन्यानुभागं बध्नन्ति तदाऽयमजघन्यानुभागः सादिः, एतानि च स्थानान्यप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति।

तदेवं त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यानुभागो भावितः। शेषत्रिके तु किम्? इत्याह— "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागत्रिके 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति। तत्राजघन्यानुभागभणनप्रसङ्गेन सर्वासां जघन्यानुभागोऽपि सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु स्थानतो निर्दिष्टः। स च तत्र तत्र तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्युपरितनावस्थासु चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः। उत्कृष्टं त्वनुभागमेतासां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति एकं द्वौ वा समयौ यावत्, ततः परं पुनरनुत्कृष्टं बध्नाति, कालान्तरे च पुनरुत्कृष्टसंक्लेशमासाद्य उत्कृष्टानुभागं रचयतीत्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागेषु संसरतां जन्तूनामुभयत्रापि साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरद् विकल्पद्वितयमपि।

तदेवं जघन्यादिषु चतुर्ष्वपि भेदेषु साद्यादिभङ्गकाश्चिन्तिताः। सम्प्रत्यध्रुवबन्धिनीनां तेषु तानाह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरितोत्तरप्रकृतिवृन्देऽध्रुवबन्धिनीप्रकृतिकदम्बके त्रिसप्ततिमङ्ख्ये उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो जघन्योऽजघन्यश्चानुभागबन्धः। 'द्विधा' द्विप्रकारः सादिरध्रुव एव भवति। प्रकृतय एव ह्येता अध्रुवबन्धित्वात् साद्यध्रुवाः, ततस्तत्सत्तानुविधायी जघन्यादिरूपः तदनुभागोऽपि यथोक्त एव भवति, न त्वनादिर्ध्रुवो वेति। तथा 'घातिनां' घातिकर्मणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथाहि—अशुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यं शुभप्रकृतीनां तु सर्वोत्कृष्टमनुभागं यः कश्चित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः स एव निर्वर्तयति। तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणकर्मत्रयस्याशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यरसं निर्वर्तयति, तद्बन्धकेष्वयमेवातिविशुद्ध इति कृत्वा। मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिबादरमेव यावद् बन्धो भवतीति स एव क्षपकश्चरमसमयेऽस्य जघन्यरसमुपकल्पयति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्। इतः स्थानादन्यत्र सर्वत्रोपशमश्रेणावपि प्रकृतकर्मचतुष्टयस्यानुभागोऽजघन्य एव बध्यते, उपशमकानामपि क्षपकेभ्यो विशुद्ध्याऽनन्तगुणहीनत्वात्। ततश्चोपशान्तमोहः सूक्ष्मसम्परायश्च यथानिर्दिष्टप्रकृतकर्मचतुष्टयसम्बन्धिनोऽजघन्यानुभागस्याबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तं बध्नाति तदाऽयमजघन्यानुभागः सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदे कृते तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात्। यैस्तूपशान्तमोहाद्यवस्था नाद्यापि प्राप्ता तेषामनादिकालादारभ्याविच्छिन्नं बध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानाम्।

तदेवं घातिकर्मणामजघन्योऽनुभागो भावितः। शेषत्रिके तु किम्? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणेऽनुभागत्रिके 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुव-लक्षणो बन्धो भवति। तथाहि—प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावद् जघन्यानुभागः क्षपकानिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्तः, शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽसावुक्तः। स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्यवस्थां च प्राप्तस्य नियमान्न भविष्यतीति अध्रुवः। अनादिस्तु न भवति, पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धासम्भवात्। ध्रुवोऽप्यसौ न भवति, अभव्यानां तद्बन्धस्य दूरोत्सारितत्वादिति। उत्कृष्टानुभागं तु प्रस्तुतकर्मणामशुभत्वात् सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नाति, न परतः। स चानुत्कृष्टादवतीर्य बध्यत इति सादिः। जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात् पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्धं गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो भवति, अनुत्कृष्टस्तु सादिः। पुनरपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेनोत्कृष्टतस्त्वनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभिरुत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवतां व्रजतीत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति।

तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि 'द्विविधः' अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च तद्बन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथा "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्योत्कृष्टभेदद्वये 'द्विधा' द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो भवति। तत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टावनुभागबन्धौ यथाक्रमं द्वि-चतुर्विकल्पौ यथा वेदनीय-नाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ। इदानीं जघन्या-ऽजघन्यौ भाव्येते-तत्र कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽधस्तनी शेषा तूपरितनी, स्थापना [ ] तत्र चाधस्तनीं स्थितिं प्रतिसमयं वेदयन् यस्मादनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्राप्स्यति, तत्र चरमसमये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति। अन्यस्थानवर्ती ह्येतावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तमपृथिवीनारकस्य ग्रहणम्। अयं हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययेनैव तिर्यक्प्रायोग्य नीचैर्गोत्रं च बध्नाति। तच्चान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्तसम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याजघन्यानुभागं बध्नातीति तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणम्। अयं च जघन्यानुभागस्तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य अजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुवः, अजघन्यानुभागस्तु सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अभव्यानां ध्रुवः भव्यानामध्रुव इति जघन्या ऽजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणो यथोक्तद्वि-चतुर्विकल्पाविति।

"सेसम्मि दुह" त्ति शेषे भणितमूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभ्योऽवशिष्टे आयुषि नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्भेदाच्चतुर्विधे जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धचतुष्केऽपि 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवबन्धलक्षणो बन्धो भवति। तथाहि—अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वात् सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम्, अन्तर्मुहूर्ताच्च परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति। भाविता अनुभागबन्धमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतीराश्रित्य भङ्गका इति। अनुभागबन्धः समाप्तः॥७४॥

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसरः, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धानां सम्बन्धिनो जीवेन आत्मसात् क्रियन्ते, अतः कर्मवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम्। तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते सति ज्ञातुं शक्यम्, अतः प्रसङ्गतः शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम्। शेषाः पुनरौदारिकाद्याः, ताश्च ग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुक-द्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणावसाना वर्गणाः सजातीयद्रव्यसमुदायरूपा निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा (अनुभागबन्धः) इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया॥ ७५॥

"सेसम्मि दुह" त्ति पदं अनुभागबन्धाधिकारे बहुभिः प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्धः समर्थितः। अणुकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततः केवलोऽणुरेवाणुकः परमाणुरित्यर्थः, एकोऽणुको यत्र स एकाणुकः, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुकः, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषां त्र्यणुकादीनां त एकाणुकद्व्यणुकादयः "मयूरव्यंसकेत्यादयः" (सिद्ध० ३-१-११६) इति मध्यमपदलोपी समासः, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्। किमवसानाः? इत्याह—"जा अभवणंत" इत्यादि। यावद् इत्यव्ययं पर्यवसानार्थे, अभव्येभ्योऽनन्तगुणिताः, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषां तेऽभव्यानन्तगुणिताणवः। गमकत्वात् समासः। 'स्कन्धाः' द्विपरमाण्वादिरूपाः। अयमर्थः—एकाणुक-द्व्यणुकादयः स्कन्धा एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावन्नेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवम्भूताः। किम्? इत्याह—औदारिकोचितवर्गणा भवन्ति। तत्रोदाराः—स्फारतामात्रमारा वैक्रियादिशरीरपुद्गला-पेक्षया स्थूला इत्यर्थः, तैरित्थम्भूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, तस्यौदारिकस्य निष्पत्तौ कर्तव्यायामुचिताः—योग्या औदारिकोचिताः, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमूहात्मिका औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थः।

भावार्थस्त्वयम्—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदायः सजातीयत्वाद् एका वर्गणा, एवं द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वाद् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा,

एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयसमुदायरूपाः सङ्ख्याता वर्गणाः, असङ्ख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणुवृद्धानामसङ्ख्येया वर्गणाः, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणाः, अनन्तानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानामनन्तानन्तवर्गणाः, सर्वा अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाद् जीवानां ग्रहे न समागच्छन्तीत्यग्रहणवर्गणा एताः सर्वा अप्युच्यन्ते। एताश्च सर्वाः समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नैः स्कन्धैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा भवन्ति। तत आरभ्य एकैकपरमाणुवृद्धस्कन्धारब्धा औदारिकशरीरयोग्योत्कृष्टवर्गणां यावदेता अपि जघन्योत्कृष्टमध्यवर्तिन्योऽनन्ता वर्गणा भवन्ति, यतो जघन्यायाः सकाशाद् उत्कृष्टाया अनन्तभागाधिकत्वं वक्ष्यते, अनन्तभागश्चानन्तपरमाणुमयः, तत एकोत्तरप्रदेशोपचये सति मध्यवर्तिनीनामानन्त्यं न विरुध्यते। "तह अगहणंतरिय" त्ति 'तथा' तेन एकैकपरमाणूपचयरूपेण प्रकारेण 'अग्रहणान्तरिताः' अग्रहणवर्गणान्तरिता वर्गणा भवन्ति। एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरोत्कृष्टवर्गणाभ्यः परत एकपरमाणुसमधिकस्कन्धरूपा वर्गणा औदारिकशरीरस्यैव जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणायाः सकाशाद् उत्कृष्टा वर्गणा अनन्तगुणा। गुणकारश्चाऽभव्यानन्तगुण-सिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। एतासां चाग्रहणप्रायोग्यता औदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वेदितव्येति॥ ७५॥

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो॥ ७६॥

'एवमेव' वकारलोपः "यावत्तावज्जीवितवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" (सिद्ध० ८-१-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण, पूर्वोक्तौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यवर्गणान्यायेन वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कर्मविषया वर्गणा भवन्ति। तत्र विविधा-नानाप्रकारा क्रिया-विक्रिया, तथा च तद्धेतुभूतायाः क्रियायाः वैक्रियसमुद्घातकरण-दण्डनिसर्गादिविविधत्वं प्रज्ञप्त्यादिषु निर्दिष्टमेव, औदारिकाद्यपेक्षया वा विशिष्टा विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियं शरीरम्। तथाऽपूर्वार्थग्रहणादिनिमित्तमुत्कृष्टतो हस्तप्रमाणं चतुर्दशपूर्वविदा आह्रियते—गृह्यते यत् तद् आहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध० ५-१-२) इति कर्मणि णकः यथा पादहारक इत्यादौ; यद्वा आह्रियन्ते—गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवादयः पदार्थाः केवलिसमीपेऽनेनेति निपातनादाहारकम्। तथाऽऽहारपाककारणभूतास्तेजोनिसर्गहेतवश्चोष्णाः पुद्गलास्तेजः इत्युच्यन्ते, तेन तेजसा निर्वृत्तं तैजसं शरीरं सूक्ष्मादिलिङ्गगम्यम्। तथा भाषणं भाषा।

तथा आनापानः—उच्छ्वासनिःश्वासः। तथा मन्यते—चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मनः। तथा कर्मणा—नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्तं कार्मणम्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थः। ततो वैक्रियादिनिष्पत्तियोग्याः पुद्गलवर्गणा अपि वैक्रियादिशब्दैः प्रोच्यन्ते, यावद् ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुकं दलिकमपि कार्मणवर्गणेति। ततश्च वैक्रियं चाहारकं च तैजसं च भाषा चानापानश्च मनश्च कार्मणं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणे। एता वैक्रियाद्या वर्गणा अग्रहणवर्गणान्तरिता भवन्तीत्यक्षरार्थः।

भावार्थस्त्वयम्—तत्र याः पूर्वमौदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा उक्तास्ता एव वैक्रियं प्रति स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वात् स्थूलपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा वेदितव्याः। ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धस्वरूपा द्वितीया वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वैक्रियशरीरप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः एवं अग्रहणप्रायोग्यवर्गणा अपि, केवलं जघन्यायाश्चोत्कृष्टा अनन्तगुणेति, गुणकारश्चाभव्यानन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः, एवं सर्वत्र। वैक्रियशरीरोत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्या अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया अग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा। एताश्च प्रभूतद्रव्यनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामोपेतत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्याः, आहारकस्याप्यल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद् बादरपरिणामोपेतत्वाच्चाग्रहणयोग्याः, एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या। अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा आहारकशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ताः एता अपि यथोत्तरमेकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता भवन्ति। ततस्तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा आहारक-तैजसयोरुक्तादेव हेतोरयोग्या जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धारब्धा तैजसशरीरनिष्पादनहेतुर्जघन्या तैजसशरीरवर्गणा, जघन्याया उत्कृष्टां यावद् एता अप्येकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि चैकोत्तरपरमाण्वारब्धाः स्कन्धाः प्रागुक्तहेतोरेव तैजस-भाषयोरयोग्यत्वादनन्ता अग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या भाषावर्गणा, यां भाषार्थं जीवोऽवलम्बते, यां च गृहीत्वा चतुर्विधभाषात्वेन-

परिणमय्य विसृजतीति भावः; जघन्याया उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता ज्ञेयाः। तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्यामादौ कृत्वोत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या आनापानवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा आनापानभावं नयति, जघन्याया आरभ्योत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। ततस्तदुपरि पुनरेकैकोत्तरस्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता अनन्ता एवाग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या मनोनिष्पत्तिहेतुर्मनोवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा जीवः सत्या-ऽसत्यादिचतुर्विध[1] मनोयोगभावेन परिणमय्य चिन्तयति; जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। ततस्तदुपरि एकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता अग्रहणवर्गणाः। तत उत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या ज्ञानावरणादिहेतुभूता कार्मणवर्गणा भवति, जघन्याया उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। अत्रौदारिकादिवर्गणा आदौ कृत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा अग्रहण-ग्रहणा-ऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणाः स्थापनया दर्श्यन्ते—[2]

औदारिकाग्रहणवर्गणा. १	औदारिकग्रहणवर्गणाः २	अग्रहणवर्गणाः ३	वैक्रियग्रहणवर्गणाः ४	अग्रहणवर्गणा ५	आहारकवर्गणा ६	अग्रहणवर्गणा. ७	तैजसग्रहणवर्गणा ८
३ शून्यानि	६ शून्यानि	९ शून्यानि	१२ शून्यानि	१५ शून्यानि	१८ शून्यानि	२१ शून्यानि	२४ शून्यानि
२ शून्ये	५ शून्यानि	८ शून्यानि	११ शून्यानि	१४ शून्यानि	१७ शून्यानि	२० शून्यानि	२३ शून्यानि
१ शून्यम्	४ शून्यानि	७ शून्यानि	१० शून्यानि	१३ शून्यानि	१६ शून्यानि	१९ शून्यानि	२२ शून्यानि
अग्रहणवर्गणाः ९	**भाषाग्रहणवर्गणा १०**	**अग्रहणवर्गणाः ११**	**आनापानग्रहणवर्गणाः १२**	**अग्रहणवर्गणा. १३**	**मनोग्रहणवर्गणाः १४**	**अग्रहणवर्गणाः १५**	**कार्मणग्रहणवर्गणा. १६**
२७ शून्यानि	३० शून्यानि	३३ शून्यानि	३६ शून्यानि	३९ शून्यानि	४२ शून्यानि	४५ शून्यानि	४८ शून्यानि
२६ शून्यानि	२९ शून्यानि	३२ शून्यानि	३५ शून्यानि	३८ शून्यानि	४१ शून्यानि	४४ शून्यानि	४७ शून्यानि
२५ शून्यानि	२८ शून्यानि	३१ शून्यानि	३४ शून्यानि	३७ शून्यानि	४० शून्यानि	४३ शून्यानि	४६ शून्यानि

१ स० १–२ म० त० °मनोभावे° ॥ २ अत्र शून्यसंख्यास्थापनं वर्गणागतस्कन्धपरमाणुज्ञापनार्थम्। वर्गणात्रय-त्रयस्थापनं सर्वत्र जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदत्रयदर्शनार्थम्, अत्र मध्यमभेदेऽवान्तरभेदा प्रत्येकस्मिन्ननन्ता विज्ञेया। एषा स्थापनाऽसत्कल्पनारूपा विज्ञेया।

एवमेता औदारिकाद्याः कार्मणवर्गणावसाना वर्गणाः प्ररूपिताः । इत ऊर्ध्वमन्यत्र कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेष्वन्या अपि ध्रुवा-ऽचित्ताद्या वर्गणा निरूपिताः, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्ताः, तत एवावसेयाः, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् प्रस्तुतप्रारम्भस्येति ।

उक्ता वर्गणाः, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिताः, अतः कियन्मात्रं क्षेत्रं ता व्याप्नुवन्ति ? इत्याह–“सुहुमा कमा” इत्यादि । एता औदारिकाद्या वर्गणाः ‘क्रमात्’ क्रमेण-उत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्याः । अयमर्थः––प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सूक्ष्माः, ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो वैक्रियस्य ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । तत आहारकग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततस्तैजसग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो भाषाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । तत आनापानग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो मनोग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततः कार्मणग्रहणवर्गणाः सूक्ष्मा इति । “अवगाहो ऊणूणगुलअसंखंसु” त्ति अवगाहन्ते–अवस्थानं कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन् असावगाहः–अवस्थानक्षेत्रम् , स च कियन्मात्रः ? इत्याह-‘ऊनोनाङ्गुलासङ्ख्येयांशः’ न्यूनः न्यूनतरोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयांशः-अङ्गुलासङ्ख्येयभागो यत्र स तथा । एतदुक्तं भवति–पुद्गलद्रव्याणां हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचयः सम्पद्यते तथा तथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरः परिणामः सञ्जायते, तत औदारिकवर्गणास्कन्धानामवगाहनाऽङ्गुलासङ्ख्येयभागः, स एव तदग्रहणवर्गणानां न्यूनः; स एव वैक्रियग्रहणवर्गणानां न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आहारकग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तैजसग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; भाषाग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आनापानग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; मनोग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; कार्मणग्रहणवर्गणानां स एवाङ्गुलासङ्ख्येयभागो न्यूनतर इति ॥ ७६ ॥

उक्तं वर्गणानां स्वरूपमवगाहक्षेत्रमानं च । अधुनैकादिवृद्ध्या वर्धमानानामग्रहणवर्गणानां परिमाणनिरूपणायाह—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

एकैकः परमाणुः प्रतिस्कन्धमधिकः–उत्तरप्रवृद्धो यासु ता एकैकाधिका एकैकपरमाणुवृद्धा इत्यर्थः, अग्रहणवर्गणा भवन्तीति योगः । कियत्यः ? इत्याह-‘सिद्धानन्तांशाः’ सिद्धानामन-

न्तोऽशः-भागो यासां ताः सिद्धानन्तांशाः-सिद्धानन्तभागवर्तिन्यः, उपलक्षणत्वाद् अभव्यानन्तगुणाः । आसामाधारनिरूपणायाह—'अन्तरेषु' अन्तरालेष्वौदारिक-वैक्रियादिवर्गणामध्येष्वित्यर्थः, 'अग्रहणाः' अग्रहणवर्गणाः । एतदुक्तं भवति-निजनिजजघन्याग्रहणवर्गणैकस्कन्धे ये परमाणवस्तेऽभव्यराशिप्रमाणेनानन्तकेन गुणिता यावन्तो भवन्ति तावत्योऽग्रहणवर्गणा एकैकपरमाणुवृद्धा अन्तरेषु मन्तव्याः । अधुना ग्रहणयोग्यवर्गणासु निजनिजजघन्यवर्गणायाःसकाशात् स्वस्वोत्कृष्टवर्गणायां यावन्मात्राधिकत्वं तदाह—"सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा" 'सर्वत्र' सर्वास्वप्यौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणवर्गणासु जघन्या चासावुचिता च—योग्या च जघन्योचिता योग्यजघन्येत्यर्थः, तस्याः सकाशात् , प्राकृतत्वात् पञ्चम्येकवचनस्य लुप् , निजेन-[1]स्वकीयेनानन्तांशेन-अनन्तभागेनाधिका-समर्गला भवति। काऽसौ ? इत्याह—'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा । किमुक्तं भवति ?—औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे यावन्तोऽणवस्तत्प्रमाणेन विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको मन्तव्यः । अत एवानन्तभागलब्धपरमाणूनामनन्तत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तरालवर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ताः सिद्धा भवन्ति । एवं वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणवर्गणास्वपि ग्रहणप्रायोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे येऽनन्तपरमाणवस्तावन्मात्रेणानन्तभागेन स्वस्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकः स्कन्धोऽधिको वाच्यः, तस्य चानन्तभागस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्धाः सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेयाः, केवलमुत्तरोत्तरवर्गणास्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरोत्त[2]राणुप्रवृद्ध-प्रवृद्धतरप्रवृद्धतमादिभेदेन नानाविधो दृश्य इति ॥७७॥

अथ यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह—

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तत्र "अंतिम" त्ति अन्ते भवा अन्तिमाः "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" (सिद्ध० ६-३-७५) इतीमप्रत्ययः, अन्त्याः-पर्यन्तवर्तिनः, अन्तिमत्वं च "[3]फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठ" (गा० ४०) इति कर्मविपाकसूत्रप्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयम् । चत्वारः-चतुःसङ्ख्याः स्पर्शाः-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य-कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः, तदन्तिमचतुःस्पर्शम् । अयमत्राशयः—

१ स० २ त० छा० °न स्वकीयेना° ॥ २ स० १-२ °राणु° प्र० ॥ ३ स्पर्शा गुरुर्लघुर्मृदुः खरः शीत उष्णः स्निग्धो रूक्ष इत्यष्टौ ॥

अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात् कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन संयुक्तस्तत्र विद्यते। तथाहि—स्निग्ध-उष्णस्पर्शद्वितयोपेतः कश्चित् परमाणुस्तत्र भवति, कश्चन रूक्ष-शीतस्पर्शद्वययुक्तः परमाणुः, कश्चिच्च स्निग्ध शीतस्पर्शद्वयोपेतः, कश्चित्तु रूक्ष उष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इति। अतः स्कन्धद्रव्यमभव्यानन्तगुणपरमाणुनिर्वृत्तं सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकलितमविरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतुःस्पर्शसम्पन्नं सङ्गच्छत एव। गुरु-लघु-मृदु-कठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्ये न भवन्तीति। एतच्च पञ्चसंग्रह कर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तम्। बृहच्छतकटीकायां तु—"मृदु-लघुलक्षणं स्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवति, अपरौ च स्निग्ध-उष्णौ स्निग्ध-शीतौ वा, रूक्ष-उष्णौ रूक्ष-शीतौ वा, द्वावविरुद्धौ भवतः" (पत्र १०४-१) इति चतुःस्पर्शोक्तिरुक्ता। तथा द्वौ सुरभि-दुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धम्। पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चेति-पञ्चसङ्ख्या वर्णाः कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-शुक्ललक्षणा यस्य तद् पञ्चवर्णम्। पञ्च रसाः-तिक्त-कटुक-कषाया-ऽम्ल-मधुरस्वरूपा यस्य तत् पञ्चरसम्। कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धाः, त एव यथास्वकालं दलनाद् विशरारुभवनात् "दल त्रिफला विशरणे" (सिद्धहेमधा० पा० २२२) इति वचनात्, दलं-दलिकं कर्मस्कन्धदलम्। ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तद् द्विगन्धं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत् पञ्चवर्णं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च तत् पञ्चरसं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसं च तत् कर्मस्कन्धदलं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम्। इह स्कन्धग्रहणेनैतत् सूचयति—ये कर्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति, तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्त इति मन्तव्यम्। वर्ण-गन्ध-रसाः पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति। उक्तं च—

[1]पंचरसपंचवन्नेहिं परिणया अट्ठ फास दो गंधा।
जावाहारगजोग्गा, चउफासविसेसिया उवरिं॥ (पञ्चसं० गा० ४१०)

आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्याः सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः।

तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः, रस्यते—विपाकानुभवनेन आस्वाद्यत इति रसः—अनुभागस्तस्याणवः अंशा रसाणवः, सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणरसाणवस्तैर्युक्तं—समन्वितम्। इदमत्र हृदयम्—इह सर्वजघन्यस्यापि पुद्ग-

---

१ पञ्चरसपञ्चवर्णैः परिणता अष्ट स्पर्शा द्वौ गन्धौ। यावदाहारकयोग्याश्चतुःस्पर्शविशेषिता उपरि॥

लस्य रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति । ते च भागा अतिसूक्ष्मतयाऽपरभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते । रसाणवो रसविभागा रसपलिच्छेदा भावपरमाणव इति पर्यायाः । ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजीवानन्तगुणा विद्यन्ते, तैश्चैवंविधै रसाणुभिर्युक्तं परिगतं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति । एतदुक्तं भवति–निम्बेक्षुरसाद्यधिश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येकं यथा रसविशेषं तत्तद्रूपं पक्ता जनयति, तथा अनुभागबन्धाध्यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा "अणंतयपएसं" ति अनन्ता अभव्यानन्तगुणाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनाः प्रदेशाः पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्तं भवति–अभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैकं कर्मस्कन्धं गृह्णाति, तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥ ७८॥

एगपएसोगाढं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढं–येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत् कर्मपुद्गलद्रव्यं तद् रागादिस्नेहगुणयोगाद् आत्मनि लगति । यदाह वाचकमुख्यः–

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ (प्रशम० का० ५५)

न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशावगाढम् , भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् । यथा हि दहनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् । एतच्च द्रव्यं गृह्यमाणं जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह–निजाः–आत्मीयाः सर्वे–समस्ताः प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः, निजसर्वप्रदेशैः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः, जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्परं संबन्धविशेषभावात् । तथाहि–एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदेशा वर्तन्ते, मिथ्यात्वादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते; यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद् ग्राह्ये घटादिके गृह्यमाणे मणिबन्ध कूर्परांऽसादयोऽपि तद्ग्रहणायाऽनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्त इति । अथैवमेकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मणि यावन्मात्रो भागो भवति इत्येतदभिधित्सुराह–"थेवो आउ तदंसो" त्ति इहाष्टविधबन्धकेन

जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन[1] विचित्रतागर्मेण गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड् भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः। तत्र यदाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितित्वेन गृहीतस्य तस्यानन्तस्कन्धात्मककर्मद्रव्यस्यांशः-भागः सर्वस्तोकः आयुष्करूपतया परिणमति, ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितित्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भागः समः, तत आयुष्कभागात्तु 'अधिकः' विशेषाधिक इति ॥ ७९ ॥

विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि [2]वेयणीये जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्य—अन्तरायस्य आवरणयोः—ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोर्भागः समः, स्वस्थाने त्रयाणामपि तुल्यस्थितिकत्वात्, नाम-गोत्रापेक्षया त्वधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थः। ततोऽन्तराय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणभागाद् 'मोहे' मोहनीये भागः 'अधिकः' विशेषाधिकः। ननु तर्हि वेदनीयस्य किंरूपो भागो भवति ? इत्याह—'सर्वोपरि' वेदनीये सर्वकर्मभागोपरिष्टाद् विशेषाधिको भागो भवति। इदमुक्तं भवति—शेषकर्मापेक्षया तावद् मोहनीयस्योपरि भाग उक्तः, वेदनीयस्य पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद् उपर्येव भागः। अत्र विनेयः पृच्छति—किं पुनरिह कारणं येनोक्तक्रमेण कर्मणां भागाधिक्यं भवति ? इति, अत्र वेदनीयस्य तावत् भागाधिक्ये कारणमाह—"तस्स फुडत्तं न हवइ" त्ति 'येन' कारणेन 'अल्पे' स्तोके दलिके सति 'तस्य' वेदनीयस्य कर्मणः 'स्फुटत्वं' सुख-दुःखानुभवनव्यक्तिरिति यावत् 'न' नैव 'भवति' जायते। एतदुक्तं भवति-सुख-दुःखजननस्वभावं वेदनीयं कर्म, तद्भावपरिणताश्च पुद्गलाः स्वभावात् प्रचुरा एव सन्तः स्वकार्यं सुख-दुःखरूपं व्यक्तीकर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति। दृश्यते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यम्। यथा हि घृष्ट्यादिकदशनं बहुतरमुपभुक्तं तृप्तिलक्षणं स्वकार्यमादधाति, मृद्वीकादिकं त्वल्पमपि भुक्तं तृप्तिमुपकल्पयति; यथा विषं स्वल्पमपि मारणादिकार्यं साधयति, लेष्टुकादिकं तु प्रचुरमिति, एवमिहापि उपनयः कार्यः। तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गलाः सुख-दुःखे साधयन्तीति सुख-दुःखस्फुटत्वकारणाद् वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम्। शेषकर्मणां भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह—"ठिईविसेसेण सेसाणं" ति वेदनीयात् शेषकर्मणामायुष्कादीनां भागस्य हीनत्वमाधिक्यं वा विज्ञेयम्। केन ? इत्याह—स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन, यस्य नाम-गोत्रादेरायुष्काद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भावः।

---

१ सं० १-२-त० म० छा० ० न चित्र० ॥ २ स १-२ त० म० छा० ०यणीइ जे० ॥

ननु स्थित्यनुरोधेन भागो भवन्नायुषः सकाशाद् नाम-गोत्रयोर्भागः सङ्ख्यातगुणः प्राप्नोति तत् किमित्युक्तं विशेषाधिक इति ? सत्यमेतत् किन्तु सर्वोऽपि नरकगत्यादिकर्मकलाप आयुष्कोदयमूलः, तदुदय एव तस्योदयात्, अत आयुष्कं प्रधानत्वाद् बहुपुद्गलद्रव्यं लभते । यद्येवं तदपेक्षयाऽप्रधानत्वाद् नाम-गोत्रयोर्भागस्य विशेषाधिकत्वमयुक्तमिति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम-गोत्रे सततबन्धिनी, ततस्तदपेक्षया बहुद्रव्यमाप्नुतः, आयुष्कं तु कादाचित्कबन्धत्वादल्पद्रव्यमाप्नोति । इदमुक्तं भवति—स्थित्यनुसारेण सङ्ख्यातगुणहीनताप्राप्तावपि शेषकर्मोदयाक्षेपकत्वेन प्रधानत्वाद् नाम-गोत्रापेक्षया किञ्चिदूनमेव भागमायुष्कं लभते, नाम-गोत्रे त्वप्रधानतया हीनताप्राप्तावपि सततबन्धित्वादायुष्कापेक्षया विशेषाधिकमेव भागं लभेते । ननु तथापि ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयस्य सङ्ख्यातगुणो भागः प्राप्नोति, तत्स्थितेर्ज्ञानावरणीयादिस्थित्यपेक्षया सङ्ख्यातगुणत्वात्, अतः कथं विशेषाधिक उक्तः ? सत्यम्, दर्शनमोहनीयलक्षणाया एकस्या एव मिथ्यात्वप्रकृतेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिरुक्ता, चारित्रमोहनीयस्य तु कषायलक्षणस्य चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीलक्षणैव स्थितिः, अतस्तदनुसारेण विशेषाधिक एव तद्भाग उक्तो न तु सङ्ख्यातगुणः । दर्शनमोहनीयद्रव्यं तु सर्वमेव चारित्रमोहनीयदलिकात् सर्वघातित्वेनानन्तभाग एव वर्तत इति न किञ्चित् तेन वर्धत इति । युक्तिमात्रं चैतत्, निश्चयतस्तु श्रीसर्वज्ञवचनप्रामाण्यादेवातीन्द्रियार्थप्रतिपत्तिः । भवत्वेवम् तथाप्येकस्मिन् समये गृहीतद्रव्यस्य कथमष्टधा परिणामः ? कथं चैवं भागविकल्पना ? इति चेद् उच्यते— अचिन्त्यत्वाज्जीवशक्तेर्विचित्रत्वाच्च पुद्गलपरिणामस्य जीवव्यतिरिक्तानामपि ह्यभ्रेन्द्रधनुरादिपुद्गलानां विचित्रा परिणतिरवलोक्यते किमुत जीवपरिगृहीतानाम् ? इत्यलं विस्तरेणेति ॥ ८० ॥

कृता मूलप्रकृतीनां भागप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां भागप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

यका यकाः प्रकृतयो यस्यां यस्यां मूलप्रकृतौ पठिता विद्यन्ते तासां सैव प्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यद् लब्धं-प्राप्तं दलिकाग्रं, तस्य योऽनन्तांशः-अनन्तभागः सर्वघातिरसयुक्तः, स एव 'सर्वघातिनीनां' प्रकृतीनां केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरण-निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-संज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणानां विंशतिसङ्ख्यानामपि 'भवति' जायते । काऽत्र युक्तिः ? इति चेद् उच्यते-इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ये स्निग्धतराः परमाणवस्ते स्तोकाः, ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भागः, त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्याः । तस्मिंश्चानन्ततमे भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपसारिते शेषस्य दलिकस्य

देशघातिरसोपेतस्य का वार्त्ता ? इत्याह–"वज्झंतीण विभज्जइ" इत्यादि । बध्यमानानां न त्वबध्यमानानां 'विभज्यते' विभागीक्रियते, विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थः । 'शेषं' सर्वघातिप्रकृत्यनन्तभागावशिष्टं प्रदेशाग्रं, कासां बध्यमानानां विभज्यते ? इत्याह–'शेषाणां' 'सर्वघातिप्रकृत्यवशिष्टानां स्वजातिप्रकृतीनाम्, कथम् ? इत्याह–'प्रतिसमयं' प्रतिक्षणम्, बन्धन-विभजनक्रिययोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिदं योजनीयम् ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः–इह ज्ञानावरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतयः, तासु चैका केवलज्ञानावरणलक्षणा सर्वघातिनी, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्यः । तत्र ज्ञानावरणस्य भागे यद् दलिकमायाति तस्य यद् अनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेतं द्रव्यं तत् केवलज्ञानावरणस्यैव भागतया परिणमति । शेषं तु देशघातिरसोपेतं द्रव्यं चतुर्धा विभज्यते, तच्च मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरणेभ्यो दीयते । दर्शनावरणस्य च नव उत्तरप्रकृतयः, तासु च केवलदर्शनावरणं निद्रापञ्चकं चेति षट् सर्वघातिन्यः, शेषास्तिस्रो देशघातिन्यः । तत्र दर्शनावरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत् सर्वघातिरसोपेतमनन्ततमभागवर्ति द्रव्यं तद् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेषं तु देशघातिरसयुक्तं द्रव्यं शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति । वेदनीयस्य पुनः सातरूपाऽसातरूपा वैकैव प्रकृतिरेकदा बध्यते, न युगपदुभे अपि, साता-ऽसातयोः परस्परं विरोधात्, अतो वेदनीयभागलब्धं द्रव्यमेकस्या एव बध्यमानायाः प्रकृतेः सर्वं भवति । मोहनीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमो भागः सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्वेधा क्रियते, अर्धं दर्शनमोहनीयस्य अर्धं चारित्रमोहनीयस्य । तत्रार्धं दर्शनमोहनीयसत्कं समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते । चारित्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादश भागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते, स्वस्थाने तु कषायद्वादशकस्यापि तुल्यम्, शेषं तु देशघातिरससमन्वितं द्रव्यं द्विधा क्रियते, तत्रैको भागः कषायमोहनीयस्य, द्वितीयो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनीयस्य भागश्चतुर्धा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागाः संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभानां ढौकन्ते। नोकषायमोहनीयस्य पुनर्भागः पञ्चधा क्रियते ते च पञ्चापि भागा यथाक्रमं त्रयाणां वेदानामन्यस्मै वेदाय बध्यमानाय, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय, भय-जुगुप्साभ्यां च दीयन्ते, नान्येभ्यः, बन्धाभावात् । न हि नवापि नोकषाया युगपद् बन्धमायान्ति, किन्तु यथोक्ताः पञ्चैव । आयुषस्तु भागे यद् द्रव्यमागच्छति तत् सर्वमेकस्या एव बध्यमानप्रकृतेर्भवति, यत आयुष एकस्मिन् काले एकैव प्रकृतिर्बध्यत इति । नामकर्मणो भागभावना कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दर्श्यते । तत्रेयं गाथा—

पिंडपगईसु वज्झंतिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।
सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ (कर्मप्र० गा० २७)

अस्या अक्षरार्थगमनिका—पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतयः। यदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—
पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति ।

तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगति-जाति-शरीर-बन्धन-संघात[1]न संहनन-संस्थाना-ऽङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वीणां वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात उपघात उच्छ्वास-निर्माण-तीर्थकराणां आतप-उद्योत-प्रशस्ता--ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर--सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त- प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ सुभग-दुर्भग-सुस्वर-दुःस्वरा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीयः। अत्रैव विशेषमाह—वर्णेत्यादि । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शानां प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तत् सर्वेभ्यस्तेषामेवावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि—वर्णनाम्नो यद् भागलब्धं दलिकं तत् पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य प्रदीयते, एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य सम्बन्धिनो भागस्य तति भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्याः । तथा सङ्घाते तनौ च प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तत् त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते। तत्रौदारिक-तैजस-कार्मणानि वैक्रिय-तैजस-कार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि सङ्घातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि सङ्घातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । "सत्तेक्कार विगप्पा बंधणनामाण" (कर्मप्र० गा० २८) बन्धननाम्नां भागलब्धं यद् दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पाः-सप्त भेदाः शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पाः शरीरचतुष्टये क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण-४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मण[2]कार्मण ७ लक्षणबन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्का-ऽऽहारकचतुष्क-तैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद् भागलब्धं दलिकमायाति तद् न भूयो विभज्यते, तासां युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाभावात्, तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिकं भवतीति । गोत्रस्य तु यद् भागागतं द्रव्यं तद् एकस्या एव बध्यमानप्रकृतेः सर्वं भवति, यद् गोत्रस्यैकदा उच्चैर्गोत्रलक्षणा नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृतिर्बध्यते। अन्तरायभागलब्धं तु द्रव्यं दानान्तरायादिप्रकृतिपञ्चकतया परिणमति, यत एताः पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात् सर्वदैव बध्यन्त इति ।

---

१ स० १-२ छा० त० म० ०त-सहन० ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव पाठ, परं कमप्रकृतिटीकायां तु-०कार्मण ७-रूपाणि वैक्रियचतुष्क-तैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त। वैक्रियच० इत्येवंरूपः पाठो दृश्यते ॥

ननु "बज्झंतीण विभज्जइ" इति वचनेन बध्यमानानामेवायं भागविधिरुक्तः, यदा च स्वस्वगुणस्थाने बन्धव्यवच्छेदः सम्पद्यते तदा तासां भागलभ्यं द्रव्यं कस्या भागतया भवति ? इति अत्रोच्यते—यस्याः प्रकृतेर्बन्धो व्यवच्छिद्यते तद्भागलभ्यं द्रव्यं यावदेकाऽपि सजातीयप्रकृतिर्बध्यते तावत् तस्या एव तद् भवति। यदा पुनः सर्वासामपि सजातीयप्रकृतीनां बन्धो व्यवच्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्येवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वमपि मूलप्रकृत्यन्तर्गतानां विजातीयप्रकृतीनामपि भवति। यदा ता अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिकं सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृतेः सम्पद्यते।

निदर्शनं चात्र यथा—स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वमपि सजातीययोर्निद्रा-प्रचलयोर्भवति, तयोरपि बन्ध[1]विच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां चक्षुर्दर्शनावरणादीनां विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाद्यवस्थायां निःशेषं सातवेदनीयस्यैव भवति। मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात् तद्भागलभ्यं दलिकं सर्वं विजातीयानामेव क्रोधादीनामाद्यद्वादशकषायाणां भवतीत्यनया दिशा तावद् नेयं यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलभ्यं द्रव्यं षड्भागतया भवति। तत ऊर्ध्वमुपशान्ताद्यवस्थायां सर्वथा शेषमूलप्रकृतीनां बन्ध[2]विच्छेदे तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति।

अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शितं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्वं विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्। तथा दर्शनावरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्या[3]नन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्। तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, ततः सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम्। तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिकं, ततः

---

१ स० १ त० छा० °न्धव्यवच्छे०। २ स० २ °न्धव्यवच्छेदो॥ ३ यद्यपि कर्मप्रकृतिटीकायाम्–'°स्यानन्तगुणं' एतादृश एव पाठः समस्ति' तथापि अस्मत्पार्श्वस्थेषु एतद्ग्रन्थस्य सर्वेष्वप्यादर्शेषु '°स्य विशेषाधिकम्' इत्येवंरूप पाठ. समस्तीति॥

प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम् । ततः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम् । ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकं, ततः संज्वलनलोभस्यासङ्ख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम् । नामकर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगति-नरकगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरस्य विशेषाधिकं, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, तत आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामानामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो

हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततो मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो रूक्ष-शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततः स्निग्ध-उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगति नरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । ❀ तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः प्रत्येक-साधारणयोः स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोः सुभग-दुर्भगयोः सुस्वर-दुःस्वरयोरादेया-ऽनादेययोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योर्वाच्यम् । आतप-उद्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम्❀ । निर्माण-उच्छ्वास-पराघात-उपघाता-ऽगुरुलघु-तीर्थकराणां त्वल्पबहुत्वं नास्ति।

यत इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णादिवर्णनाम्नः शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभग-दुर्भगयोः, न चैताः परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात् , नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात् । तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य, तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम् । तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य, विशेषाधिकं, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् ।

तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राल्पबहुत्वम् । सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते—

१ यद्यपि ❀ ❀ एतत् फुल्लिकाद्वयमध्यवर्ती पाठोऽस्मत्समीपवर्तिषु एतद्ग्रन्थस्य समेष्वप्यादर्शेषु एतादृग एव, परं ग्रन्थेऽत्र "कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दृश्यते" इत्युल्लेखे कृतेऽपि तया सह नैष संवादी । तत्स्थाने कर्मप्रकृतौ तु—"तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । तथा सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं पर्याप्तनाम्नः' ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्नः । एवं स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोः सुभग-दुर्भगयोरादेया-ऽनादेययोः सूक्ष्म-बादरयोः प्रत्येक-साधारणयोर्वाच्यम् । तथा सर्वस्तोकमयशःकीर्तिनाम्न प्रदेशाग्रम् , ततो यशःकीर्तिनाम्नः संख्येयगुणम् । शेषाणामातप-उद्योत-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वरदुःस्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् । निर्मा० " एवंरूपः पाठो दृश्यते ।।

तत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्रायाः, ततः प्रचलाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान-क्रोध-माया-लोभा-ऽनन्तानुबन्धिमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकत्वं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यङ्-मनुष्यायुषोः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुणं, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि गतौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गतेः, ततो मनुजगतेर्विशेषाधिकं, ततो देवगतेरसङ्ख्येयगुणं, ततो नरकगतेरसङ्ख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नां, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि, सर्वस्तोकमौदारिकशरीरनाम्नः, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि वाच्यम् । अङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । तथा सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं नरकगति-देवगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मनुजानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकं त्रसनाम्नः, ततः स्थावरनाम्नो विशेषाधिकम् । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः प्रत्येक-साधारणयोश्च । शेषाणां तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्वं न विद्यते, तथा साता-ऽसातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोरपि । अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवावगन्तव्यमिति ॥ ८१ ॥

१ कर्मप्रकृतिटीकायां तु-"सङ्घातननाम्नोऽ०" इत्येवरूपः पाठः ॥

प्रतिपादितं मूलोत्तरप्रकृतीनां भागस्वरूपम् । सम्प्रति भागलब्धदलिकं प्रततरं गुणश्रेणिरचनयैव जन्तुः क्षपयति अतो गुणश्रेणिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मदरसव्वविरई उ अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

गुणश्रेणय एकादश भवन्तीति सम्बन्धः । कुत्र कुत्र ? इत्याह—" सम्मदरसव्वविरई उ " इत्यादि । तत्र "[1]सम्म" त्ति सम्यक्त्वं-सम्यग्दर्शनं तल्लाभे एका गुणश्रेणिः । तथा विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दरविरतिः—देशविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणिः । सर्वविरतिः-सम्पूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणिः । "अणविसंजोय" त्ति अनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां चतुर्थी गुणश्रेणिः । "दंसखवगे" त्ति पदैकदेशे पदप्रयोगदर्शनाद् दर्शनस्य-दर्शनमोहनीयस्य क्षपको दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणिः । चशब्दः समुच्चये । "मोहसम" त्ति मोहस्य-मोहनीयस्य शमः-शमक उपशमकः स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्चाभिधीयते, तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणिः । "संत" त्ति शान्तः-उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तत्र सप्तमी गुणश्रेणिः । "खवगि" त्ति क्षपकः-क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्च निगद्यते, तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणिः । "खीण" त्ति क्षीणः-क्षीणमोह[स्त]स्य नवमी गुणश्रेणिः । "सजोगि" त्ति सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणिः । "इयर" त्ति अयोगिकेवलिन एकादशी गुणश्रेणिरिति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयं-सम्यक्त्वलाभकाले मन्दविशुद्धिकत्वाद् जीवो दीर्घान्तर्मुहूर्तवेद्यामल्पतरप्रदेशाग्रां च गुणश्रेणिमारचयति । ततो देशविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां करोति । ततः सर्वविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां करोति । ततोऽप्यनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विदधाति । ततो दर्शनमोहनीयक्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां निर्मापयति । ततोऽपि मोहशमकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽपि क्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽपि क्षीणमोहः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां कुरुते । ततोऽपि सयोगिकेवली भगवान् सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विधत्ते । ततोप्ययोगिकेवली परम-

१ स० १-२ त० मा० छ० "सम्मं" ति ॥

विशुद्धिपरिकलितः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां परिकल्पयति । तदेवं यथा यथाऽतिविशुद्धिस्तथा तथा ह्रस्वकाल-बहुप्रदेशाग्रत्वं च गुणश्रेणेर्भवतीति ॥ ८२ ॥

निरूपिता गुणश्रेणिरेकादशधा । सम्प्रत्यस्या एव स्वरूपं पूर्वप्रदर्शितसम्यक्त्वादिगुणारूढजन्तूनां मध्ये यस्य जन्तोर्यावद्गुणा दलिकनिर्जरा तां च प्ररूपयन्नाह—

[1]गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥

गुणेन-गुणकारेण श्रेणिर्गुणश्रेणिः । श्रेणिशब्दवाच्यमाह—"दलरयण" त्ति दलस्य-उपरितनस्थितेरवतारितप्रदेशाग्रस्य रचना-सन्न्यासो दलरचना । कथं पुनर्दलिकरचना ? कस्माच्चारभ्य केन च गुणकारेण विधीयते जन्तुना ? इत्याह—'अनुसमयं' ति समयं समयमनु—लक्षीकृत्य प्रतिसमयमित्यर्थः, 'उदयाद्' उदयक्षणादारभ्य-'असङ्ख्यगुणनया' असङ्ख्यातगुणकारेण । इदमुक्तं भवति—उपरितनस्थितेरवतारितं दलिकमुदयक्षणे स्तोकं जन्तुर्विरचयति, द्वितीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम्, तृतीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम् इत्येवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण दलरचना तावद् नेया यावद् गुणश्रेणिमस्तकमिति । तथोपरितनस्थितेर्दलिकावतारणस्याप्ययमेव न्यायो वाच्यः । यथा—गुणश्रेणिन्यसनयोग्यमुपरितनस्थितेः प्रथमसमये स्तोकं गृह्णाति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्यातगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण तावद् नेयं यावत् चरमसमय इति । उक्तं च—

[2]उवरिल्लठिईहिंतो, घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ ।
उदयसमयम्मि थोवे, तत्तो य असंखगुणिए उ ॥
बीयम्मि खिवइ समए, तइए तत्तो असंखगुणिए उ ।
एवं समए समए, अंतमुहुत्तं तु जा पुन्नं ॥
दलियं तु गिण्हमाणो, पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे ।
उवरिल्लठिईहिंतो, बीयम्मि असंखगुणियं तु ॥
गिण्हइ समए दलियं, तइए समए असंखगुणियं तु ।
एवं समए समए, जा चरिमो अंतसमओ त्ति ॥

---

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०४ गाथा-तट्टीकासमाना ॥
२ उपरितनस्थितेर्गृहीत्वा पुद्गलांस्तु स क्षिपति । उदयसमये स्तोकांस्ततश्चासङ्ख्यगुणितांस्तु ॥
द्वितीये क्षिपति समये तृतीयस्मिंस्ततोऽसङ्ख्यगुणितांस्तु । एवं समये समये अन्तर्मुहूर्त्तं तु यावत् पूर्णम् ॥
दलिकं तु गृह्णन् प्रथमे समये स्तोककं गृह्णीयात् । उपरितनस्थितेर्द्वितीये असङ्ख्यगुणितं तु ॥
गृह्णाति समये दलिकं तृतीये समयेऽसङ्ख्यगुणितं तु । एवं समये समये यावच्चरमोऽन्तसमय इति ॥

तथेहापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणाद्धाद्वयाद् विशेषाधिकोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो गुणश्रेणेः कालो भवति, तावन्तं च कालं दलिकविरचनं करोति। तथाऽधस्तनाधस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे सति शेषक्षणेषु दलिकं विरचयति, न पुनरुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। उक्तं च--

[1]सेढीएँ कालमाणं, दुण्ह य करणाण समहियं जाण।
खिज्जइ सा उदएणं, जं सेसं तम्मि निक्खेवो॥

सम्यक्त्वश्रेणेरयं क्रमः। शेषाणामपि श्रेणीनां दलरचनायां प्राय एष एव विधिः किञ्चिद्विशेषोऽपि चास्ति, केवलं स कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थान्तरादवसेयो नेह प्रतन्यते, ग्रन्थगौरवभयात्। अधुना यद्गुणवशाद् जीवानां यावती निर्जरा तामाह—एते—प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरत्यादयो गुणाः धर्मा येषां ते एतद्गुणा जीवा इत्युत्तरेण सम्बन्धः। कथम्? इत्याह-'पुनः' इति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः। 'क्रमशः' यथोत्तरं क्रमेणासङ्ख्यातगुणिता निर्जरा—कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसङ्ख्यगुणनिर्जराः 'जीवाः' सत्त्वा भवन्तीति शेषः। तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो मोहशमका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः॥८३॥

इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसङ्ख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्ष-विशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह—

[2]पलि[3]यासंखंसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं।
गुरु मिच्छि वे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो॥८४॥

इह 'भामा सत्यभामा' इति न्यायात् पल्योपमासङ्ख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरमिति योगः। केषाम्? इत्याह—सास्वादनश्च इतरगुणाश्च—अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणास्तेषाम्, प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः। 'अन्तरं' विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतानां

१ श्रेणेः कालमानं द्वयोश्च करणयोः समधिकं जानीहि। क्षीयते सोदयेन यच्छेषं तस्मिन्निक्षेपः॥
२ सटीकेयं गाथा सार्धशतकप्रकरणस्य १०५ गाथा-तट्टीकासमा॥ ३ सं० १-२ त० म० छा० । ट्ठयासंखंतमु०॥

पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानम् अन्तरालमिति यावत्, 'ह्रस्वं' जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्य [1]मन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्-योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन् अन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात् सास्वादनभावमासाद्य मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदेव सास्वादनत्वं पुनर्लभतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते-यतः सास्वादनाद् मिथ्यात्वं गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव । न च तयोः सत्तायां वर्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तदभावात् सास्वादनत्वं दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासङ्ख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनलाभः ? इति चेद् उच्यते-इह सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्तयति, तद्दलिकं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासङ्ख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ निःसत्ताकं नीतौ भवतः, इत्थमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात् । ततः पल्योपमासङ्ख्येयभागेन मिश्र-सम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिद् जन्तुः पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमासङ्ख्येयभागोऽन्तरं भवतीति ।

नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन एतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासङ्ख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम् ? सत्यम्, उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वाद् नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्तित्वादन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरत--सम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभते इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवान्तरालं भवति । तथाहि-कश्चिद् जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन् उपशान्तत्वमपि सम्प्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं या[2]वदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति त[3]दा शेषाणां सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं भवति, एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव । उक्तं च--

१ सार्धशतकप्रकरणटीकायां °न्यमन्तरमन्तर्मु° २ छा० म० °वदाप्नोति ॥ ३ सं० १ म० °दावशेषा° ॥

[1]एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६)

तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात् श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावात् तयोर्वर्जनमुक्तम् । श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्यादृष्टयादीनामप्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं प्राप्यते । क्षपक-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्यैवाभावादिति ॥

उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह—"गुरु मिच्छि वे छसट्ठी" इत्यादि । 'गुरु' उत्कृष्टमन्तरं "मिच्छि" त्ति 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकस्य 'द्वे षट्षष्टी' षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थः—यः कश्चिद् जन्तुर्विशुद्धिवशाद् मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, ततः सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्वकालं प्रतिपाल्य अन्तर्मुहूर्तमेकं सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति, ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत् तदनुपाल्य तत ऊर्ध्वं यो न सिध्यति सोऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति, तत इत्थं सागरोपमषट्षष्टिद्वयरूपं सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्त-नरभवाधिकमुत्कृष्टं मिथ्यात्वस्यान्तरालं भवतीति । "इयरगुणे" त्ति इतरगुणस्थानकविषये । कोऽर्थः? मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादनादिषूपशान्तमोहान्तेषु 'गुरु अन्तरम्' उत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति । कियद्? इत्याह—"पुग्गलद्धंतो" त्ति सूचकत्वात् सूत्रस्य पुद्गलस्य—पुद्गलपरावर्तस्यार्धं पुद्गलपरावर्तार्द्धं तस्यान्तरं—मध्यं पुद्गलपरावर्तार्द्धान्तः, किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्द्धमित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यं—सास्वादनादय उपशमश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टतः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्द्धं यावदपारसंसारपारावारमध्यमवगाह्य पुनस्तानि गुणस्थानकानि लभन्ते नार्वाक्, तत ऊर्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् सम्प्राप्य अवश्यं जीवाः सिध्यन्तीति, ततो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तरं भवति । क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति, प्रतिपाताभावादिति ॥ ८४ ॥

इह सास्वादनस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयांश उक्तम् । अतः पल्योपमस्वरूपं सप्रपञ्चं प्रचिकटयिषुराह—

उद्धार अद्ध खित्तं, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥

धान्यपल्यवत् पल्यं--पल्योपमं 'त्रिधा' त्रिप्रकारं भवति । सिलोपः प्राकृतत्वात् । तथाहि-उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च । तत्र वालाग्राणां तत्खण्डानां वा प्रतिसमयमु-

---

१ एकस्मिन् भवे द्विश्चारित्रमोहमुपशमयेत् ॥

द्धरणमुद्धारस्तद्विषयं-तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् १ । अद्धा-कालः, स च प्रस्तावाद् वालाग्राणां तत्खण्डानां वाऽपहारे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपमम् २ । क्षेत्रम्-आकाशप्रदेशरूपं तत्प्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च ३ इह । "समयवाससयसमए केसवहारो" त्ति तत्रोद्धारपल्योपमे केशानां-वालाग्राणां समये समयेऽपहारः-उद्धरणं क्रियते, अद्धापल्योपमे वर्षशते केशापहारः क्रियते, क्षेत्रपल्योपमे समये समये केशापहारः-केशस्पृष्टाऽस्पृष्टाकाशप्रदेशापहारः क्रियते । तत्र "दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं" ति तत्रोद्धारपल्योपमेन प्रयोजनं द्वीपोदधिपरिमाणं-द्वीपा उदधयश्चानेन प्रमीयन्ते, तथाऽद्धापल्योपमेन प्रयोजनम् आयुःपरिमाणं-[1]देव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणामायूंष्यनेन मीयन्त इत्यर्थः, क्षेत्रपल्योपमेन प्रयोजनं त्रसादिपरिमाणम्, आदिशब्दात् पृथिवीकायिका-ऽप्कायिक-तेजस्कायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिकानां परिमाणं ग्राह्यम् । उक्तं च—

[2]एएण खित्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्वं ।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं परीमाणं ॥ (जीवसमा० गा० १३३)

इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह त्रिविधं पल्योपमम् । तद्यथा—उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमम् क्षेत्रपल्योपमम् । पुनरेकैकं द्विधा— बादरं सूक्ष्मं च । तत्रायाम-विस्तराभ्याम-वगाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिदूनषड्भागाधिकयोजन-त्रयमानः पल्यो मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि यानि वालाग्राणि तैः प्रचयविशेषाद् निबिडतरमाकर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निर्न दहति वायुर्नापहरति जलं नोत्कोथयति, ततः समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सकलोऽपि सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालः सङ्ख्येयसमयमानो बादरमुद्धार-पल्योपमम् । एतेषां च दशकोटिकोटचो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण—समुद्रेणो-पमा यस्येति कृत्वा । बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादिति बादरोद्धारपल्योपम-सागरोपमयोः प्ररूपणम्, न पुनरेतत्प्ररूपणेऽन्यद् विशिष्टं फलमस्तीति । एवं बादरेष्वद्धाक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमेष्वपि वक्तव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

[3]तत्थ णं जे से वावहारिए उद्धारपलिओवमे से णं इमे, से जहानामए पल्ले सिया जोयणं आयामविक्खंभेणं जोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं तिगुणसविसेसं परिरएणं, से णं एगाहियबेहियतेहियाणं

---

१ त० म० देवानां नारका० । छा० स १-२ देवाना नरक० ॥

२ एतेन क्षेत्रसागरोपमानेन भवेज्ज्ञातव्यम् । पृथ्वीदकाग्निमारुतहरितत्रसानां च परिमाणम् ॥

३ तत्र यत् तद् व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमं तद् इदम् असौ यथानामकः पल्यः स्याद् योजनं आयामविष्कम्भाभ्यां योजनश्चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन सविशेषत्रिगुणः परिरयेण, स एकाहिकद्व्यहिकत्र्यहिकै-

[1]उक्कोससत्तरत्ताणं संसट्ठे संनिचिए भरिए वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा नो कुच्छिज्जा नो विद्धंसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, तओ चेव णं समए समए एगमेगं वालग्गमवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए नीट्ठिए निल्लेवे भवइ[2] से तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे ।

[3]एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हविज्ज दसगुणिया ।
उद्धारसागरस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥

[4]एएहिं वावहारिएहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? नत्थि किंचि पओयणं, केवलं पन्नवइ[5]ज्जइ (अनुयो० पत्र १८०-१-२) इति ।

उक्तं बादरमुद्धारपल्योपमम् । अथ सूक्ष्मं तद् उच्यते—तत्रैकैकं वालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत् पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यतः प्रत्येकमत्यन्तशुद्धलोचनच्छद्मस्थो यदतीवसूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुषा न पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्राणि । क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मपनकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसङ्ख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः । एषां च वालाग्राणामसङ्ख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल सङ्ख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्ति, अतः सङ्ख्येयवर्षकोटिमानमिदं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममवसेयम् । तद्दशकोटिकोट्यः सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम् । आभ्यां पल्योपम-सागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

[6]एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? एएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ । केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! जावइया णं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ॥ (पत्र १८१-१)

भाष्यसुधाम्भोनिधिरप्याह—

---

१ यावदुत्कृष्टसप्तरात्रे संसृष्ट- संनिचितो भृत वालाग्रकोटिभिः, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् नोत्कोथयेयुः न विध्वंस्येयुः न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयुः, ततश्च खलु समये समय एकैकं वालाग्रमपहरता यावता कालेनासौ पल्यः क्षीणो नीरजा निष्ठितो निर्लेपश्च भवति तदिदं व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमम् ॥ २ स० १-२ छा० त० म० ०इ से त्तं वा० एवमग्रेऽपि ॥ ३ एतेषां पल्यानां कोटाकोटीभवेद्दशगुणिता । उद्धारसागरस्य त्वेकस्य भवेत् परिमाणम् ॥ ४ एताभ्यां व्यावहारिकाभ्यामुद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? नास्ति किञ्चित् प्रयोजनं केवलं प्रज्ञाप्यते ॥ ५ स० १-२ छा० त० म० इज्जा ॥

६ एताभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? एताभ्यां द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते । कियन्तो भदन्त ! द्वीप-समुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! यावतामर्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणां उद्धारसमया एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ॥

[1]उद्धारसागराणं, अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया ।
दुगुणादुगुणपवित्थर, दीवोदहि हुंति एवइया ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ८०)

इत्युक्तं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्युद्धारपल्योपमम् १ । सम्प्रति द्विविधमेवाद्धापल्योपमं प्ररूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः सङ्ख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम् , तद्दशकोटीकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम् । तथैव पूर्वोक्तपल्याद्-वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डापहारेण निर्लेपनाकालोऽसङ्ख्यातवर्षकोटीमानः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम् , तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्ममद्धासागरो[2]पमम् , तद्दशसागरोपम-कोटीकोटीप्रमाणाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैवोत्सर्पिण्यपि, अवसर्पिणी-उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्तः, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ताः अतीताद्धा, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ता अनागताद्धा चेति ।

उक्तं च श्रीभगवतीटीकायां—

[3]अहवा पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वुच्छित्ती ।
जं तीयऽणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ॥ (शत० १२ उ० २)

अयमत्राभिप्रायः—यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति व्यक्तं समत्वमिति । अन्ये त्वाहुः—

[4]उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणन्ता तीयऽद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥ (जीवस० गा० १२९)

अत्रेयं भावना—अतीताद्धातोऽनागताद्धाया अनन्तगुणत्वम् , समयावलिकादिभिरनवरतं क्षीयमाणाया अप्यनागताद्धाया अक्षयात् ।

आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां सुर-नरक-नर-तिरश्चां कर्मस्थितिः काय-स्थितिः भवस्थितिश्च मीयते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

[5]एएहिं सुहुमअद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं नेरइयतिरिक्ख-जोणियमणुस्सदेवाण य आउयाइं मविज्जंति (पत्र १८३–२) इति ।

अभिहितं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्यद्धापल्योपमम् २ । साम्प्रतं द्विविधमेव क्षेत्रपल्योपमं निरूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमयं एकैकापहारेण निर्लेपना-

---

१ उद्धारसागराणामर्धतृतीयानां यावन्तः समयाः। द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा द्वीपोदधयो भवन्त्येतावन्तः॥
२ सं० १-२ त० म० छा० °पमं, दशसाग° ॥
३ अथवा प्रतीत्य कालं न सर्वभव्यानां भवति व्युच्छित्तिः । यदतीतानागते अद्धे द्वे अपि तुल्ये ॥
४ उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्तो ज्ञातव्यः । तेऽनन्ता अतीताद्धाऽनागताद्धा चानन्तगुणा ॥
५ एताभ्यां सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां नैरयिकतिर्यग्यो-निकमनुष्य-देवानामायूंषि मीयन्ते ।

कालोऽसङ्ख्ये योत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरं क्षेत्रसागरोपमम्। तथैवैकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डैः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारेण निर्लेपनाकालो बादरासङ्ख्येयगुणकालमानः सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्मं क्षेत्रसागरोपमम्। उक्तं चानुयोगद्वारेषु–

'से किं तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ? से जहानामए पल्ले सिया एगजोयणं आयामविक्खंभेणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव भरिए वालग्गकोडीणं, तत्थ णं एक्कमिक्के वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कीरइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जभागमित्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते णं वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा जाव नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, जे णं तस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं फुन्ना वा अणाफुन्ना वा तओ णं समए समए इक्कमिक्कमागासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे जाव निल्लेवे भवइ से तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे। तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी—अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ? हंता अत्थि। जहा को दिट्ठंतो ? से जहानामए कुट्ठे सिया कुहंडाणं भरिए तत्थ माउलिंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ बिल्ला पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ आमलया पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं वयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं चिणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं सरिसवा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं गंगावालुया पक्खित्ता सा वि माया, एवमेव अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ॥ (पत्र १९२-१) इति।

एताभ्यां च सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां प्रायो दृष्टिवादे द्रव्यप्रमाणप्ररूपणायां प्रयोजनं सकृदेव नान्यत्र। यदागमः—

---

१ अथ किं तत् सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम् ? असौ यथानामकः पल्यः स्याद् एकयोजनं आयामविष्कम्भाभ्याम् योजनं ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन यावद् भृतः वालाग्रकोटिभिः तत्र खलु एकैकं वालाग्रमसंख्येयानि खण्डानि क्रियते, तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य शरीरावगाहनातोऽसंख्येयगुणानि, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् यावद् न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयुः, ये च तस्य आकाशप्रदेशा तैर्वालाग्रैः स्पृष्टा वा अनास्पृष्टा वा ततः खलु समये समये एकैकमाकाशप्रदेशमपहाय यावता कालेन स पल्यः क्षीणः यावद् निर्लेपः भवति तदिदं सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्। तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टाः ? हन्त सन्ति। यथा को दृष्टान्तः ? असौ यथानामकः कोष्ठः स्यात् कूष्माण्डैर्भृतः, तत्र मातुलिङ्गानि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि, तत्र बिल्वानि क्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्रामलकानि प्रक्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्र बदराणि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि, तत्र चणकाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र मुद्गाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र सर्षपाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र गङ्गावालुकाः प्रक्षिप्तास्ता अप्यवगाढाः, एवमेव सन्त्येव तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टा इति।

[1]'एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइं मविज्जंति (अनुयो० पत्र १९३-१) इति ।

आह-यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चेह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रैः किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सामान्येनैव वक्तुमुचितं स्यात्, सत्यम्, किन्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचिद् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरिति, अतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥८५॥

व्याख्यातं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमपि क्षेत्रपल्योपमम् ३ । तद्व्याख्याने च समर्थितं सप्रपञ्चं पल्योपम-सागरोपमस्वरूपम् । इदानीं किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्धं सास्वादनादीनामुत्कृष्टमन्तरमुक्तम् अतस्तमेव सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकामः प्रथमं तावत् तस्यैव भेदान् परिमाणं चाह-

[2]दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषयः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः 'काले' कालविषयः 'भावे' भावविषयः, इत्थं 'चतुर्धा' चतूरूपः पुद्गलपरावर्तो भवतीत्युत्तरेण सण्टङ्कः । पुनरेकैको द्रव्यादिकः 'द्विविधः' द्विप्रकारो भवति । द्वैविध्यमेवाह—"बायरो सुहुमो" त्ति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नः । अयमर्थः—द्रव्यपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा--बादरः सूक्ष्मश्च । कियत्कालप्रमाणः पुनरयमेकैकः ? इत्याह--"होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो" त्ति 'भवति' जायते उत्सर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्यः, ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्यः, उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्यः, ताश्च परिमाणं यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणीपरिमाणः । पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः, तेषां पुद्गलानां चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्तः-औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्तः । यद्यपि

---

१ एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्या किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्या दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते ॥

२ सटीकेय गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०६तमी गाथा-तट्टीकासमा ॥

क्षेत्रादिविषयस्य पुद्गलपरा[1]वर्तरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथाव्युत्पादितस्यापि शब्दस्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥८६॥

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादरः सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम् । अतः क्रमप्राप्तं बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य 'औदारिकादिसप्तकत्वेन' औदारिकपरमाणून् औदारिकशरीरतया आदिशब्दाद् वैक्रियपरमाणून् वैक्रियशरीरतया, तैजसपरमाणून् तैजसशरीरतया, कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया, भाषापरमाणून् भाषात्वेन, प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया, मनोवर्गणापरमाणून् मनस्त्वेन, न पुनराहारकशरीरमप्यत्र ग्राह्यम् कादाचित्कत्वात् तल्लाभस्येति, 'स्पृष्ट्वा' परिणमय्य तथापरिणामं नीत्वा, 'एकजीवः' विवक्षितैकसत्त्वः 'मुञ्चति' त्यजति, 'सर्वाणून्' चतुर्दशरज्ज्वात्मक[2]लोकवर्तिसमस्तपरमाणून्, "जत्तियकालि" त्ति यावता कालेन, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । स इत्थं पुद्गलस्पर्शमानेनोपमितः कालविशेषः 'स्थूलः' बादरः "दव्वि" त्ति द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रक्रमः । इह किल संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् यावता कालेन औदारिकशरीर--वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-भाषा-प्राणापान--मनः-कार्मणशरीरलक्षणपदार्थसप्तकभावेन यथास्वं परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गलपरावर्तो भवतीति तात्पर्यमिति ।

अभिहितो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । इदानीं सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह—"सुहुमो सगन्नयर" त्ति सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह—'सप्तकान्यतरात्' [न्यतरस्मात्] सप्तकान्यतरेण, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । इदमत्र हृदयम्—सप्तानामौदारिक-वैक्रिय-तैजस भाषा-प्राणापान-मनः-कार्मणसप्तकाद्न्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिकादिना पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलानां स्पर्शने औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । विवक्षितभेदाविशेषैः षड्भिर्भेदैः परिणमिता अपि न गृह्यन्त इति । एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति, तथाहि—यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीर-वैक्रियशरीर--तैजसशरीर--कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति ।

---

१ त० म० 'वर्तस्वरू' । सं० १-२ 'वर्तत्वरू' ॥ २ सं० १-२ छा० म० ०कवर्ति० ॥

यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचित् शरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥८७॥

उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । सम्प्रति क्षेत्र-काल-भावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नान् निरूपयन्नाह—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥

लोकस्य—चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशाः—निर्विभागा भागा लोकप्रदेशाः, तथोत्सर्पिणीशब्देनावसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत्, तयोः समयाः—परमनिकृष्टाः कालविशेषा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीसमयाः, समयस्वरूपं च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्रशतभेदोदाहरणाच्चावसेयम्, ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्वः । तथाऽनुभागस्य--रसस्य बन्धः--बन्धनं तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि-कषायोदयविशेषलक्षणान्यनुभागबन्धस्थानानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानीत्यर्थः। चः समुच्चये, ततश्चैते प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्था यदा 'मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्' यथातथामरणेन-क्रमोत्क्रमाभ्यां प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टाः-व्याप्ता भवन्ति तदा "खित्ताइ थूल" त्ति 'क्षेत्रादयः' क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कालपुद्गलपरावर्तभावपुद्गलपरावर्ताः 'स्थूलाः' बादरा भवन्ति । यदा पुनस्त एव लोकाकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्थाः क्रममरणेन--पूर्वस्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त भावपुद्गलपरावर्ताः "इयर" त्ति इतरे सूक्ष्मा भवन्तीति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्--यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु व्यवहितेषु वा अपरापराकाशप्रदेशेषु म्रियमाणः सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति । नवरं येष्वपरप्रदेशवृद्धिरहितेषु पूर्वावगाढेष्वेव नभःप्रदेशेषु मृतस्ते न गण्यन्ते, अपूर्वास्तु दूरव्यवहिता अपि स्पृष्टा गण्यन्त एवेति १ । कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरः कालपुद्गलपरावर्तो भवति । केवल येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेक-द्वितीयादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति २ । भावतः पुद्गलपरावर्त उच्यते--अनु-

१ सं० १-२ त० छा० ०कादिशरीरादिचतु० ॥ २ स० १-२ त० म० छा ०सर्पिण्युपल० ॥

भागबन्धाध्यवसायस्थानानि [1]मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदतोऽसङ्ख्येयानि वर्तन्ते, एतेषां चासङ्ख्येयत्वप्रमाणमुत्तरत्र वक्ष्यामः। ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति, अत्रापि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्टं तदेवान्यदाऽपि यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्वं तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्टं गण्यत एवेति ३।

भाविता बादराः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः। साम्प्रतमेत एव सूक्ष्मा भाव्यन्ते--इह येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेष्वेव नभःप्रदेशेष्वन्यदाऽपि यदि म्रियते, अपरस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्यां तु वेलायां तेषामप्यनन्तरेष्वन्येषु, एवं तावद् नेयं यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेषु क्रमेण म्रियमाणो जन्तुः सर्वानपि लोकाकाशप्रदेशान् स्पृशति, ये चापरप्रदेशवृद्धिरहिताः पूर्वावगाढा एव दूरव्यवस्थिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्मः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इति १।

पञ्चसङ्ग्रहशास्त्रे तु सूक्ष्म-बादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इत्थं व्याख्यातः, यथा—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति। कोऽर्थः? यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः। सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः? यत्राकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते। यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति, तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकः परिकल्प्यते, तस्माद् गणनाप्रवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण प्रभूतकालख्यापनं कृतं भवतीति।

सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या वा प्रथमसमये कश्चिद् मृतः, ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते, पुनरपि कदाचित् तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये, एवं चतुर्थ--पञ्चम-षष्ठादिसमयक्रमेणानन्तानन्तैर्भवैर्यावत् सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति। ये तु प्रथमादिसमयक्रममुल्लङ्घ्य व्यवहितसमयाः पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु न गृह्यन्त एवेति।

सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त उच्यते—इह किलानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि बध्यमानकर्मपुद्गलेषु तादृशानुभागपलिच्छेदनिर्वर्तकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्द-प्रवृद्ध-

१ सं० १-२ म० छा० मन्द-प्रवृद्धतरादिभे० ॥

प्रवृद्धतरादिभेदतो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्तमानः कश्चिद् जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद् विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य मरणं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तानन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति, व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति॥८८॥

व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम्। सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन् उत्कृष्टं यथाविधश्च जघन्यं प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह–

[1]अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥८९॥

अल्पतराश्च ताः प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृतिबन्धी, यो यो मौलानामौत्तराणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात्। 'उत्कटयोगी' उत्कटवीर्यवान्, सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्तमान इत्यर्थः। 'चः' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे, पर्याप्तश्चेति योक्ष्यते। संज्ञा--मनोविकल्पनलब्धिः सा विद्यते यस्यासौ संज्ञी, 'पर्याप्तश्च' समाप्तपर्याप्तिकः, 'करोति' विदधाति प्रदेशानामुत्कर्षः--उत्कृष्टत्वं प्रदेशोत्कर्षस्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत्। इह संज्ञीति विशेष्यम्, शेषाणि तु विशेषणानि। अत्र च यो मनःपूर्विकां क्रियां विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तयैव चोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम्। संज्ञ्यपि जघन्ययोग्युत्कृष्टयोगी च भवत्यतो जघन्ययोगिव्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धात्। संज्ञ्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्धं विधातुमलमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम्। एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहुल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम्। तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विधत्ते इति। तर्हि जघन्यं प्रदेशबन्धं कथं करोति ? इत्याह—"जहन्नयं तस्स वच्चासे" त्ति जघन्य एव जघन्यकः, "यावादिभ्यः" (सिद्ध० ७-३-१५) इति स्वार्थे कः प्रत्ययः, तं जघन्यकं प्रदेशबन्धमिति प्रक्रमः। 'तस्य' पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापस्य च 'व्यत्यासे' विपर्यये सति जन्तुः करोतीति योगः। अयमर्थः—बहुतरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसंज्ञी जीवो जघन्यं प्रदेशबन्धं विदधातीति ॥ ८९ ॥

अभिहितः सामान्येनोत्कृष्ट-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। सम्प्रति मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्च

---

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य ९६तमी गाथा-तट्टीकासदृशी॥

प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निरूपयन्नाह—

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस्स सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

"आउ" त्ति आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः पञ्च, तद्यथा—"मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टिः "अजयचउ" त्ति अयतेन—अविरतसम्यग्दृष्टिना उपलक्षिताश्चत्वारः—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तलक्षणाः पञ्चैव जनाः "अप्पयरपयडिबंधी" (गा० ८९) इत्यादिभणितगाथासम्भवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणादयश्चायुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीताः । सास्वादनस्तह्यायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीतः ? इति चेद् उच्यते—तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाभावात् । तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरतादिष्वप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथैवानन्तानुबन्धिनां मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात् , न चैवं निर्दि(र्दे)क्ष्यते, तस्माद् ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन तथाविधप्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति । किञ्च अनन्तरमेवोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रत्येकं सूक्ष्मसम्परायादिपूत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निर्देक्ष्यति, न सास्वादनम् , यद् वक्ष्यति—"सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो" (गा० ९२)। बृहच्छतकेऽप्युक्तं—

सेसपएसुक्कडं मिच्छो ॥ (गा० ९६) इति ।

अतोऽपि ज्ञायते 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसम्भवः' । अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।

"बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाइ" त्ति 'मोहे' मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वे 'द्वितीय-तृतीयगुणौ विना' सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके च वर्जयित्वा शेषाणि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते ।

इदमत्र हृदयम्—मिथ्यादृष्टि-अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्तिनः सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अन्ये तु सास्वादन-मिश्रावपि सङ्गृह्य "मोहस्स नव उ ठाणाणि" त्ति पठन्ति, तच्च न युक्तियुक्तम् , यतः सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते इत्युक्तमेव, मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो न

लभ्यते । तथाहि—द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति "अजया देसा वितिकसाए" इति वचनात् । यदि तु मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामितया निर्दिश्येत । न च वक्तव्यम्—मिश्रादल्पतरप्रकृतिबन्धकोऽविरत इत्ययमेव गृहीतः, यतोऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीनां सप्तविधबन्धकस्तत्र ग्रहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीरपि मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभावं विहाय नापरं तत्परित्यागे कारणं समीक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात् सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । "छण्हं सतरस सुहुमु" त्ति मूलप्रकृतीनां 'षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सूचकत्वात् सूत्रस्य "सूक्ष्मः" सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहा-ऽऽयुषी न बध्नाति, अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा 'सप्तदशानां' ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-सातवेदनीय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामुत्तरप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति, मोहा-ऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत्र [1]तद्भागोऽधिको लभ्यते । अपरं च दर्शनावरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासङ्ख्यं दर्शनावरणचतुष्कस्य यशःकीर्तेश्च एकस्या भवतीति सूक्ष्मसम्परायस्यैव ग्रहणम् । "अजया देसा वितिकसाए" त्ति 'अयताः' अविरतसम्यग्दृष्टयः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'द्वितीयकषायान्' अप्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा 'देशाः' देशविरताः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'तृतीयकषायान्' प्रत्याख्यानावरणाख्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥९०॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

"पण" त्ति पञ्च प्रकृतीः—पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणाः अनिवृत्तिबादरः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुंवेद-संज्वलनचतुष्टयात्मकं पञ्चविधं बध्नन् असावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, हास्य-रति-भय-जुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयं बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विदधाति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन्

१ सं० १-२ म० छा० तद्भागो लभ्य० ॥

उत्कृष्टप्रदेशबन्धं मानस्य करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नंस्तस्यैवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणमिति। तथा सुखगतिः-प्रशस्तविहायोगतिः नरायुः त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकं-सुरगति-सुरानुपूर्वी सुरायुर्लक्षणं सुभगत्रिकं-सुभग-सुस्वर-ऽऽदेयस्वरूपं वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं समचतुरस्रसंस्थानम् असातवेदनीयं "वइरं" ति वज्रर्षभनाराचसहननम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा उत्कृष्टप्रदेशाः करोति।

तथाहि—असातं यथा मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धको बध्नाति तथा सम्यग्दृष्टिरपि सप्तविधबन्धक एवैतद् बध्नाति, अतः प्रकृतिलाघवादिविशेषाभावाद् उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यसातमुत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः। देव-मनुष्यायुषोरप्यष्टविधबन्धकावुत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः। देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणा नव नामप्रकृतयो नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकाले एव बन्धमागच्छन्ति, नाधस्तनेषु पूर्वोक्तरूपेषु त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु। तां चाष्टाविंशति देवगतिप्रायोग्यां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च बध्नाति। तथाहि—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघुनाम पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणनाम इति। अतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धसहचरिता एता नवप्रकृतीर्निर्वर्तयति। सप्तविधबन्धकौ सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टी उत्कृष्टयोगे वर्तमानावविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशा विधत्तः, यत एषाऽष्टाविंशतिर्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरत-देशविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया। अष्टाविंशतेरुपरितनेष्वेकोनत्रिंशदादिबन्धस्थानेष्वप्येता नव प्रकृतयो बध्यन्ते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्यष्टाविंशतिसहचरितत्वेन ग्रहणम्। वज्रर्षभनाराचस्यापि सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा सप्तविधबन्धको नाम्नो वज्रर्षभनाराचसहितामेकोनत्रिंशतं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे वज्रर्षभनाराचसंहननं समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं

निर्माणमितिलक्षणां, मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणां वा निर्वर्तयन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । एकोनत्रिंशतोऽधस्तनबन्धेष्विदं न बध्यते, त्रिंशद्बन्धे तु बध्यते, केवलं भागबाहुल्यात् तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धगतस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टयोरविरोधेन भावितस्त्रयोदशानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्ध इति ॥ ९१ ॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं-हास्य-रति-अरति-शोकाख्यं, भयं "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा "तित्थ" त्ति तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिनवकं सम्यग् गच्छति ज्ञानादिमोक्षमार्गमिति सम्यग्गः-सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति । तत्र निद्रा-प्रचलयोरविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतद् न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताद्यपूर्वकरणान्तानां मध्ये तद्बन्धकास्ते ते उत्कृष्टयोगे वर्तमाना उत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनाम्नोऽप्यविरताद्यपूर्वकरणान्तः सम्यग्दृष्टिर्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगन्यतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातनाम निर्माणमित्येतामष्टाविंशतिं तीर्थकरनामसहितामेकोनत्रिंशतं देवगतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यादृष्टिरेतद् न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिकाः पूर्वोक्तरूपा नाम्न उत्तरप्रकृतयो न बध्यन्ते । त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तनीत्या तीर्थकरनामसहितौ बध्येते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति शेषपरिहारेणैकोनत्रिंशत्प्रकृति-

बन्धग्रहणम् । तथा 'सुयतिः' शोभनसाधुः प्रस्तावादप्रमत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वयोरपि प्रमादरहितत्वेन सुयतित्वात् ततश्चैतौ द्वावपि देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघुनाम उपघातनाम निर्माणनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद् देवगतिप्रायोग्यं त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिकदम्बकं बध्नन्तौ उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेशं बध्नीतः । तीर्थंकरनामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद् बध्यते, किन्तु तत्र भागबाहुल्याद् न गृह्यते । तथा 'शेषाः' भणितचतुःपञ्चाशत्प्रकृतिभ्य उद्धरिताः स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद नारकायुष्क-तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग--तैजस-कार्मण--प्रथमवर्जसंहनन- प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया ऽयशःकीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येताः षट्षष्टिप्रकृतयः 'उत्कृष्टप्रदेशकाः' उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः ''मिच्छो'' त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-शुभा -ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणाः पञ्चविंशतिप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिद् बध्नाति परं तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यतेऽत एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यथासम्भवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेशाः करोति । या अपि चोक्तस्वरूपाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात बादर-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्नः तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माण-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावर-बादर-सूक्ष्मैकतरा-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणान्यतरा-ऽस्थिरा--ऽशुभ--दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणो बन्धः तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरैः पञ्चविंशत्यादिबन्धैः, भागबाहुल्यात् । शेषाणां तु मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-पर्याप्त स्थिर-

१ सं १-२ त० म० छा० °ऽशुभ-य° ॥

शुभलक्षणनां दशप्रकृतीनां यथासम्भवं पर्याप्तैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरैः षड्विंशत्यादिबन्धैः, भागबाहुल्यादेव । नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन, तत्रैतासां बन्धाभावादेव । तौ च त्रयोविंशति-पञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवतः, देव-पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् तस्येति, अत एतासामपि पञ्चविंशतिप्रकृतीनां यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानानां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगो मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोतीति ॥ ९२ ॥

निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमभिधित्सुराह--

सुमुणी दुन्नि असंन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुनिः' प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधुः-अप्रमत्तयतिः "दुन्नि" त्ति द्वे प्रकृती आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशे बध्नाति । अयमर्थः--परावर्तमानयोगो घोलनयोगीत्यर्थः, अष्टविधबन्धकः स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम परा[1]घातनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थकरनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येवमेकत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् अप्रमत्तयतिराहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते परं तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्बन्धग्रहणम् । एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम् । तथा असंज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोगः परावर्तमानयोग इत्यर्थः, नरकत्रिकं--नरकगति-नरकानुपूर्वी नरकायुर्लक्षणं सुरायुः इत्येताश्चतस्रः प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति । तथाहि--पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूत्पत्त्यभावादेवैताश्चतस्रः प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असंज्ञ्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावाद् नैता बध्नाति, अतः सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्यः । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्येत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तरं पुनः सङ्क्रामतः स्वभावादल्पचेष्टा भवतीति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविधं बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्य-

१ सं. १-२ म० त० छा० ०घात० ।

सर्वजघन्यवीर्ये वर्तमानः प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैकं, चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति परमार्थः। पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतुःसमयावसानत्वादुत्तरत्राप्येष कालनियमो द्रष्टव्यः। ननु पर्याप्तसंज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं न बध्नाति ? इति चेद् उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्; जघन्योऽपि हि पर्याप्तसंज्ञियोगः पर्याप्तासंज्ञ्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येयगुण इति। तथा "सुरविउव्विदुगं" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीरूपं वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं 'जिननाम' तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिपञ्चकं "सम्मो" त्ति सम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमानः "जहन्नं" ति जघन्यं-जघन्यप्रदेशं करोति।

तथाहि-कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्नः प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां नामप्रकृतित्रिंशतं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं पराघातमुच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-शुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगं सुस्वरमादेयं तीर्थकरनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणमितिलक्षणां बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्तीर्थकरनाम जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। नारकोऽपि श्रेणिकादिवदेवं तद्बन्धकः सम्भवति, परमिह देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽतस्तेषु समुत्पन्नो नेह गृहीतः। तिर्यञ्चस्तु तीर्थकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिताः। मनुष्यास्तु भवाद्यसमये तीर्थकरनामसहितां नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति। एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थकरनामसहितः संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्पं न लभ्यते। अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थकरनामैव न बध्यतेऽतः शेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणम्। देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थकरनामा देव-नारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासं पराघातं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टयं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थकरनामेतिलक्षणां देवगतिप्रायोग्यां नाम्नैकोनत्रिंशतं निर्वर्तयन् स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। देव-नारका हि तावद् भवप्रत्ययादेवैतत् प्रकृतिचतुष्टयं न बध्नन्तीति नेहाधिकृताः। तिर्यञ्चः पुनरभोगभूमिजा भवाद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत्, केवलं ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपां रचयन्ति, नैकोनत्रिंशदादिबन्धान्, तेषां तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितत्वात्, तिरश्चां तु तदबन्ध-

कत्वात्; अतस्तेषु भागा अल्पा लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते । मनुष्यस्याप्यष्टाविंशतिबन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते । त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवतः, तत्र च वीर्यमल्पं लभ्यते । अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्य एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम् । ननु तिर्यक्षु पर्याप्तासंज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत् प्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृतः ? उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्; अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्तासंज्ञियोगो जघन्योऽप्यसङ्ख्येयगुण इति । "सुहुमनिगोयाइखणि सेस" त्ति सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तक आदिक्षणे–भवाद्यसमये 'शेषाः' भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भवं च बह्वीः प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात्, सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥९३॥

निरूपितं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्यादिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह–

दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥९४॥

दर्शनषट्कं–चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन--केवलदर्शनावरण-निद्रा प्रचलालक्षणं, भयजुगुप्से "बितितुरियकसाय" त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायाः–अप्रत्याख्यानावरणाः, तृतीयकषायाः–प्रत्याख्यानावरणाः, तुर्याः–चतुर्थाः कषायाः संज्वलनकषायाः, विघ्नानि पञ्चदान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, ज्ञानानि–ज्ञानावरणानि मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणा--ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण--केवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च इत्येतासामुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशतः प्रकृतीनां तथा "मूलछगे" त्ति मूलप्रकृतिषट्के–ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः "चउह" त्ति चतुर्धा सादि-अनादि-ध्रुवा ऽध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थः । इह तावद् यत्र सर्वबहवः कर्मस्कन्धा गृह्यन्ते स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत् सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीतः । यत्र सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं स जघन्यः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत् सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीत इति । अनया परिभाषया दर्शनावरणषट्कादीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति ।

तथाहि––चक्षुर्दर्शनावरणा--ऽचक्षुर्दर्शनावरणा -ऽवधिदर्शनावरण--केवलदर्शनावरणलक्षणप्रकृतिचतुष्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं सर्वथा न

बध्नाति, दर्शनावरणस्याप्येतदेव प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति, न शेषप्रकृतीः, अतो मोहनीया-ऽऽयुर्भागयोर्यथास्वमत्र प्रवेशाद् निद्रापञ्चकभागस्यापि चात्र प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक-द्विसमयग्रहणम् । एवं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात् , ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति । निद्रा प्रचलाद्विकस्य त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगवृत्तयः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धग्रहणम् , स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्तीत्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, सम्यक्त्वसहितं चोत्कृष्टयोगमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् ,अध्रुवो भव्यानामिति । तथा भय-जुगुप्सयोः सम्यग्दृष्टिरविरतादिरपूर्वकरणान्त उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । कषायभागः पुनः सजातित्वात् कषायाणामेव भवति नैतयोः । मिथ्यादृष्टिस्तु मिथ्यात्वं बध्नातीति मिथ्यात्वभागो न लभ्यत इति तस्येहाग्रहणम् । सास्वादन-मिश्रयोस्तु लभ्यते मिथ्यात्वभागः, केवलमुक्तनीत्या तयोरुत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तावपि नेहाधिकृतौ । अपूर्वकरणोपरिवर्तिनस्तु भय-जुगुप्से न बध्नन्तीत्यपूर्वकरणान्तविशेषणम् । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, तद् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चासौ न बध्नात्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च सास्वादनस्त्वनन्तानुबन्धिनो बध्नातीति तयोरग्रहणम् । मिश्रस्तु मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते । देशविरतादयस्त्वप्रत्याख्यानावरणान् न बध्नन्तीति शेषव्युदासेनाविरतसम्यग्दृष्टिरेवाधिकृतः । एष चाविरतसम्यग्दृष्टिर्यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति तदाऽसौ सादिः, तद् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति । तथा प्रत्याख्यानावरणचतु-

ष्टयस्योत्कृष्टयोगी देशविरतः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यंसावबन्धकोऽतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति । एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयं बध्नन् उत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशं करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा । स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने माया-लोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टप्रदेशं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा । स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नन् तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशं करोति एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणम् । एष चानिवृत्तिबादरो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च यथास्वं प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वोपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा--निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति ।

तदेवं त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भावितः । शेषत्रयस्य का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धलक्षणे सर्वत्र त्रिविधेऽपि 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः । तत्रानुत्कृष्टभणनक्रमेणोत्कृष्टस्त्रिंशतोऽपि प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायादिषु दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धसम्भवे वाऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरेतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयादिसमयेषु पुनर-

१ स० १-२ त० म० ०दा अनु० ॥

सावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्यं बध्नाति, पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्या-ऽजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवतः ।

इति भावितस्त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्द्धा, उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धश्च द्विधा । शेषे का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ"त्ति पदं भूयोऽप्यनुवर्त्यते, 'शेषे' भणितत्रिंशत्प्रकृत्यवशिष्टे स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-वर्णादिचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माणलक्षणे सप्तदशध्रुवप्रकृतिकदम्बके औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरत्रया-ऽङ्गोपाङ्गत्रय- संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्क-तीर्थकरनाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम--पराघातनाम-त्रसदशक-स्थावरदशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र—साता-ऽसातवेदनीय-हास्य—रति-अरति-शोक-वेदत्रया-ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणत्रिसप्ततिसङ्ख्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतिसमूहे च सर्वत्रोत्कृष्टाऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणे चतुर्विकल्पेऽपि प्रदेशबन्धे 'द्विधा' द्विप्रकारः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवति । तथाहि—अध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वादेवोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यस्तत्प्रदेशबन्धः सर्वोऽपि सादि-अध्रुव एव भवति। स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिनां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धमेकं द्वौ वा समयौ यावत् करोति, सम्यग्दृष्टिरेताः प्रकृतीर्न बध्नातीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम् । मिथ्यात्ववर्जा एताः प्रकृतीः सास्वादनोऽपि बध्नाति, परं भणितप्रकारेण सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तस्याग्रहणम् । उत्कृष्टयोगस्यैतावानेव काल इत्येक-द्विसमयनियमः। उत्कृष्टयोगात् प्रतिपत्य स एवानुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति, पुनः स एवोत्कृष्टमित्येवं द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ । जघन्यप्रदेशबन्धं पुनरेतासां सर्वजघन्यवीर्यलब्धिर्भवाद्यसमये वर्तमानः सप्तविधं बध्नन् अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदः करोति. द्वितीयादिसमयेषु च स एवाजघन्यं करोति, कालान्तरेण पुनः स एव जघन्यं करोतीत्येतावपि द्वौ सादि-अध्रुवौ भवतः । तथा वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माणलक्षणस्य प्रकृतिनवकस्याप्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टौ जघन्या-जघन्यौ च प्रदेशबन्धौ सादि-अध्रुवावेवमेव वक्तव्यौ । नवरमुत्कृष्टयोगो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको नाम्नस्तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिः वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणमित्येवं त्रयोविंशतिमुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धको वाच्यः । शेषं तथैव। नाम्नो हि पञ्चविंशत्यादिबन्धग्रहणे बहवो भागा भवन्तीति त्रयोविंशतिबन्धग्रहणमिति ।

भाविता उत्तरप्रकृतीराश्रित्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धेषु साद्यादिविकल्पाः । सम्प्रति मूलप्रकृतीः प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धादिभङ्गेषु साद्यादिभङ्गकानभिधित्सुराह—'मूलछगेऽणुक्कोसो चउह'' त्ति 'मूलषट्के' मूलप्रकृतिषट्के--ज्ञानावरण- दर्शनावरण--वेदनीय--नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः 'चतुर्धा' सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतुःप्रकारो भवति । तथाहि—प्रस्तुतकर्मषट्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, किन्त्वेतदेव प्रस्तुतषट्कं बध्नाति, अतो मोहनीया-ऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक-द्विसमयग्रहणम् । एनं चोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा[1] पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा—निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति ।

उक्तः षण्णां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्पः । शेषबन्धत्रिके साद्यादिभङ्गकानाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टप्रदेशबन्धलक्षणे त्रिके 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विप्रकारो बन्धो भवति। तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्टः सूक्ष्मसम्परायेऽनन्तरं दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, उपशान्ताद्यवस्थायां पुनरनुत्कृष्टबन्धगमने चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरमीषां षण्णां कर्मणां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयादिसमयेषु त्वसावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्यं बध्नाति, पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्याऽजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवत इति ।

भाविता मूलप्रकृतिषट्कस्योत्कृष्टादिबन्धविकल्पाः साद्यादिभङ्गकैः । अथावशिष्टयोर्मोहाऽऽयुषोरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धान् साद्यादिविकल्पतः प्ररूपयन्नाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" 'शेषे' भणितोद्धरिते मोहे आयुषि च सर्वत्रोत्कृष्टेऽनुत्कृष्टे जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवति । तत्र मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वाऽनिवृत्तिबादरान्तः सप्तविधबन्ध-

---

१ सं–१–२ त० म० °दा अनु° ॥

काले उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, पुनरनुत्कृष्टयोगं प्राप्यानुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरुत्कृष्टं पुनरप्यनुत्कृष्टमित्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धयोः संसरतां जन्तूनां मोहस्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धौ द्वावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । जघन्या-ऽजघन्यौ त्वेतत्प्रदेशबन्धौ यथा सूक्ष्मनिगोदादिषु संसरतामसुमतां कर्मषट्कस्यानन्तरमेव भावितौ तथाऽत्रापि निर्विशेषं भावनीयौ । आयुष्कस्य त्वध्रुवबन्धित्वादेव तत्प्रदेशबन्ध उत्कृष्टादिचतुर्विकल्पोऽपि सादि-अध्रुव एव भवतीति ॥ ९४ ॥

निरूपितः प्रदेशबन्धः साद्यादिप्ररूपणतः । सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं प्रकृतयः प्रदेशाश्च तत्कार्यं प्रवर्तन्ते, तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणं स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम् अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्ते इति कृत्वा सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥

योगः—वीर्यं तस्य स्थानानि—वीर्याविभागांशसङ्घातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—"सेढिअसंखिज्जंसे" त्ति श्रेणेः असङ्ख्येयांशः श्रेण्यसङ्ख्येयांशः । एतदुक्तं भवति—श्रेणेर्वक्ष्यमाणरूपाया असङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः, केचित्तु बहु-बहुतर-बहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन च्छिद्यमानमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसङ्ख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

[1]पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि [2]एत्तिया संखा ।
तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥

(शत० बृ० भा० गा० ६६८-६९)

---

१ प्रज्ञया छिद्यमाना असङ्ख्यलोकानां यावन्त प्रदेशाः । तावन्तो वीर्यभागा जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् ॥ सर्वजघन्यकवीर्ये जीवप्रदेशे यावती सङ्ख्या । ततोऽसङ्ख्यगुणिता बहुवीर्ये जीवप्रदेशे ॥ २ सं० १-२-त०-म० छा० मुद्रि० तत्ति ॥

भागा अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोकाविभागपलिच्छेदकलितानां लोकासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसङ्ख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपलिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपलिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीयवर्गणा, एवमेकैकयोगपलिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेरसङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते ।

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असङ्ख्येयवीर्यभागान्विता अप्यसत्कल्पनया दशभागान्विताः स्थाप्यन्ते । ते च[१] जीवप्रदेशा एकैकस्यां वर्गणायामसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशमाना अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धक इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते, किं तर्हि ? प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपलिच्छेदास्तेभ्योऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्ते, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते, किं तर्हि ? असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्धकमारभ्यते, पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्धकानि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पर्धकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितम् । तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोरनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थमित्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां कालभेदेन एकजीवस्य वा श्रेणेरसङ्ख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तद्भेदाद् योगस्थानान्यनन्तानि कस्मान्न भवन्ति ? नैतदेवम्, यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसङ्ख्याता वर्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितम्, अतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकैकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमेवावतिष्ठन्ते,

१ सं० १ २-छा० त० म० च प्रदे० ॥

ततः परमसङ्ख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिसमयमन्याऽन्ययोगस्थानकेषु सङ्क्रामन्ति । पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावद् वर्तन्ते, ततः परमन्यद् योगस्थानकमुपजायते । स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्था[1]नकेषु तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम् उत्कृष्टतस्तु क्वचित् त्रीन् क्वचिच्चतुरः क्वचित् पञ्च क्वचित् षट् क्वचित् सप्त क्वचिदष्टौ समयान् यावद् वर्तन्ते इति । अयं चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात् संक्षिप्य सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यमृषामनोयोगा-ऽसत्यमृषामनोयोग-सत्यवाग्योगा-ऽसत्यवाग्योग-सत्यमृषावाग्योगा-ऽसत्यमृषावाग्योग-औदारिककाययोग-औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगभेदतः पञ्चदशधा प्रोक्तः, इत्यलं प्रसङ्गेन ।

एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्यः 'अङ्ख्येयगुणाः' असङ्ख्यातगुणिताः "पयडि" त्ति भेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् प्रकृतिभेदाः—ज्ञानावरणादीनां भेदाः । "असंखगुण" त्ति पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत् सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञान-दर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसङ्ख्यातास्तावद् भेदा भवन्ति, ततश्चैतदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणा भेदाः सङ्गच्छन्ते, वैचित्र्येण बद्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसङ्ख्येयभेदत्वं प्रतीयते ? इति चेद् उच्यते—क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामानं जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसन्दर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—

[2]जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु ॥ (आव० नि० गा० ३०)

उत्कृष्टं तु सर्वबहुतैजस्कायिकजन्तूनां शूचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः—

[3]सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु ।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोहीखेत्त निद्दिट्ठो ॥ (आव० नि० गा० ३१) इति ।

ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसङ्ख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति, अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन

---

१ सं० १-२ त० छा० म० ०नके तु ज० ॥
२ यावती त्रिसमयाहारकस्य सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य । अवगाहना जघन्या अवधिक्षेत्रं जघन्यं तु ॥
३ सर्वबहुकाग्निजीवा निरन्तर यावद् भृतवन्तः । क्षेत्रं सर्वदिक्कं परमावधिक्षेत्र निर्दिष्टम् ॥

बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्याता भेदाः सम्पद्यन्ते इति । उक्तं च—

[1]जम्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसो सव्वबहुयसिहिसूई ।
जत्तियमित्तं फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥
तत्तारतम्मभेया, जेण बहुं हुंति आवरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्तं, पयडीणं जोगओ जाणे ॥ इति ।

चतसृणामानुपूर्वीणां बन्ध-उदयवैचित्र्येणासङ्ख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छतकचूर्णिकारोक्तो विशेषः ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तेषां बन्ध-उदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशानां बन्ध-उदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद् विसदृशास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति, ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात् प्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः प्रकृतयः यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्त इति ।

तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः 'स्थितिभेदाः' स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त-समयाधिकान्तर्मुहूर्त-द्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त-त्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असङ्ख्यातगुणा भवन्ति, एकैकस्याः प्रकृतेरसङ्ख्यातैः स्थितिविशेषैर्बध्यमानत्वात् । एकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन कदाचिदन्यतरेण कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभेदमेकं च जीवमाश्रित्य असङ्ख्याताः स्थितिभेदा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवान् आश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदानामसङ्ख्यातगुणत्वम् ? इति, अतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदा असङ्ख्यातगुणा भवन्तीति ।

तथा स्थितिभेदेभ्यः सकाशात् 'स्थितिबन्धाध्यवसायाः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि असङ्ख्यातगुणानि । तत्र स्थानं–स्थितिः कर्मणोऽवस्थानं, तस्या बन्धः स्थितिबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, स्थितिबन्धस्य

---

१ यस्मात्त्ववधिविषय उत्कृष्टः सर्वबहुकशिखिसूची । यावन्मात्रं स्पृशति तावन्मात्रप्रदेशसम ॥ तत्तारतम्यभेदा येन बहवो भवन्त्यावरणजनिताः । तेनासङ्ख्यगुणत्वं प्रकृतीनां योगतो जानीहि ॥

कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि । तानि स्थितिभेदेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्तरेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते, अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति ।

तथा "अणुभागट्ठाण" त्ति "पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्" 'अनुभागस्थानानि' अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । तत्रानु-पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भज्यते—सेव्यतेऽनुभूयते इत्यनुभागः -रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामयिकम् उत्कृष्टतस्त्वष्टसामयिकान्तमेवोक्तम्, अत एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैकं जीवं वा समाश्रित्य असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि—जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देश-क्षेत्र-काल-भाव--जीवभेदेनासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति ॥ ९५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥

'ततः' तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः 'कर्मप्रदेशाः' कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।

१ स० १-२ त० म० छा० ०त्तरे तु स्थिति० ॥

तथा "तओ रसच्छेय" त्ति 'ततः' तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि--इह क्षीर-निम्बरसाद्यधिश्रयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तण्डुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणोः सम्बन्धी केवलिप्रज्ञया च्छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणानविभागपलिच्छेदान् प्रयच्छति, यस्माद् भागादतिसूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते, एवंभूताश्चानुभागस्याविभागपलिच्छेदा रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवानन्तगुणाः सम्प्राप्यन्ते । उक्तं च—

'गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ।। (कर्मप्र० गा० २९)

गुणशब्देनेहाविभागपलिच्छेदा उच्यन्ते, शेषं सुगमम् ।

कर्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्तेऽतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्तीति ।

अत्राह—ननूक्तो भवद्भिः सप्रपञ्चं प्रदेशबन्धः, परं कस्माद् हेतोरमुं जीवः करोति ? इति वक्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य प्रदेशबन्धस्य प्रसङ्गतः पूर्वोक्तानां प्रकृति-स्थिति-अनुभागबन्धानां च हेतून् निरूपयन्नाह—"जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाउ" त्ति योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, तस्माद् योगात् प्रकरणं प्रकृतिः-कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभावः, प्रकृष्टाः पुद्गलास्तिकायदेशाः प्रदेशाः--कर्मवर्गणान्तःपातिनः कर्मस्कन्धाः, प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशम् समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः, प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—यद्यपि षडशीतिकशास्त्रे मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगाः सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहादिगुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थायां तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम् । तथा "ठिइअणुभागं कसायाउ" त्ति स्थानं—स्थितिः, कर्मणोऽन्तर्मुहूर्तादिकं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तमवस्थानमित्यर्थः, अनु—पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भजनं--स्थितेः सेवनमनुभवनं यस्यासावनुभागो रस इत्यर्थः, स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागम्, समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः । कस्मात् ? इत्याह—'कषायात्' कषायवशात् । इयमत्र भावना---कषायाः--क्रोध-मान-माया-लोभाः, तज्जनितो जीवस्याध्यवसायविशेषः कषायशब्देनेहोच्यते, कषाया ह्युदीर्णा नानाजीवानां कालभेदेनैकजीवस्य वा सर्वजघन्याया अपि ज्ञानावरणादिकर्मस्थितेर्निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेश-

१ ग्रहणसमये जीव उत्पादयति तु गुणान् स्वप्रत्ययतः । सर्वजीवानन्तगुणान् कर्मप्रदेशेषु सर्वेषु ।।

प्रमाणान्यान्तर्मौहूर्तिकान्यध्यवसायस्थानानि जनयन्ति, समयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि तु त एव तेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, द्विसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, त्रिसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, एवं समयोत्तरवृद्धतज्जघन्यस्थितिजनकानि विशेषाधिकानि तावद् वाच्यानि यावत् त एव कषायाः समयोनोत्कृष्टज्ञानावरणादिस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्यः सर्वोत्कृष्टतत्स्थितिजनकाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि निर्वर्तयन्ति। एतानि सर्वाण्यपि मिलितान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येव भवन्ति, स्थाप्यमानानि च विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति। स्थापना चेयम्—

```
0000000000
000000000
00000000
0000000
000000
```

तदेवमेतैः कषायजनिताध्यवसायैर्जन्यत्वात् कर्मणः स्थितिः कषायप्रत्यया सिद्धा। तथा तेषामेव कषायाणां सम्बन्धि यद् दलिकमुदयप्राप्तं तत्र यदनुभागस्थानकमुदेति तेन जीवस्य योऽध्यवसायो जन्यते, तद्वशेन बध्यमानकर्मणामनुभागो निष्पद्यते। तथाहि—इह तावदनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति, तत्र चैकैकस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानप्येकाधिकान्, अन्यस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अपरस्तु तानपि त्र्यधिकानित्यादिवृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति। अत्र च जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशानां परिकल्प्यते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वाद् एका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां द्व्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अपरेषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः। एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवात्रोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा इति कृत्वा। एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते —

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१

इदमेकं स्पर्धकम्। इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि? सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति, तेनैव क्रमेण द्वितीयं स्पर्धकमारभ्यते, ततस्तथैव तृतीयमित्यादि यावदनन्तान्यनुभागस्पर्धकान्युत्तिष्ठन्ति। एषां चानुभागस्पर्धकानां सिद्धानन्तभागवर्तिनामभव्येभ्योऽनन्तगुणानां समुदायः प्रथममनुभागस्थानकं भवति, अन्येषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण द्वितीयं तावत्प्रमाणमेवानुभागस्थानकमुत्ति-

ष्ठति, अपरेषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण तृतीयमनुभागस्थानकमुत्तिष्ठतीत्येवं सर्वेष्वपि कषायकर्मस्कन्धेष्वसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागस्थानानि भवन्ति। ज्ञानावरणादिसमस्तकर्मस्कन्धेष्वप्येतावन्त्येवामूनि भवन्ति, परं तावदिह कषाया एव कारणत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्ताः, तत्र च जघन्यान्यनुभागस्थानान्युत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावदुदये समागच्छन्ति, मध्यमानि तु कानिचिद् द्वौ समयौ कानिचित् त्रीन् समयान् अपराणि चतुरः समयान् अन्यानि पञ्च समयान् अन्यानि षट् समयान् अपराणि सप्त समयान् अन्यान्यष्टौ समयान् यावदुत्कृष्टत उदये समागच्छन्ति, उत्कृष्टानुभागस्थानान्युत्कृष्टतो द्वौ समयौ यावदुदये समागच्छन्ति, ततः परं सर्वत्रान्यत् परावर्तते। जघन्यतस्तु सर्वाण्यपि समयस्थितीन्येव भवन्ति, अतस्तज्जन्यो जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदभिन्नोऽध्यवसायोऽप्येतावत्कालस्थितिक एव भवति, तेन च जघन्यादिभेदेनाध्यवसायवैचित्र्येण बध्यमानकर्मानुभागो जघन्यादिभेदविचित्रो जन्यते, अतः कषायानुभागजनिताध्यवसायवैचित्र्यनिर्वर्त्यत्वात् कर्मणामनुभागः कषायप्रत्ययः सिद्धः। मिथ्यात्वा-ऽविरतिकारणद्वयाभावेऽपि कषायसद्भावेऽपि प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीहाप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थिति अनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणमिति ॥९६॥

'योगस्थानानि श्रेणेरसङ्ख्येयभागे भवन्ति' इति यदुक्तं तत्र श्रेणिस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः, सा च घनीकृतलोकस्वरूपप्ररूपणापूर्विकैव च वक्तुं शक्यतेऽतः प्रसङ्गतो घनस्वरूपमन्यत्र बहुस्थानोपयोगित्वात् प्रतरस्वरूपं च प्रचिकटयिषुराह—

[1]चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जुः, रज्जुप्रमाणं तु स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पौरस्त्यपाश्चात्यवेदिकान्तं यावद् दक्षिणोत्तरवेदिकान्तं वा यावदवसेयम् , उच्छ्रयमानमिदमस्य, अधस्ताद् देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः, शेषस्थानेषु पुनः कोऽपि कियानस्य विस्तर इति । तदेवंरूपो लोकः 'बुद्धिकृतः' मतिपरिकल्पनया विहितः 'भवति' सम्पद्यते । किंरूपो भवति ? इत्याह—सप्त रज्जवः प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जुः, स चासौ घनश्च—समचतुरस्र-आयामविष्कम्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघनः । स चेत्थं बुद्ध्या विधीयते—इह रज्जुविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधो देशोनरज्जुत्रयविस्तृतं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद् याव-

१ सटीकेयं गाथा सार्धशतकप्रकरणस्य ११४ तमी गाथा-तट्टीकासमाना ।

दुपरिष्टाद् रज्जु(ज्ज्व)सङ्ख्येयभागविस्तरं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरदिग्भागे विपरीतं योज्यते, उपरितनं भागमधः कृत्वाऽधस्तनं चोपरि विधाय सङ्घात्यते इत्यर्थः; एवं च कृतेऽधस्तनं लोकस्यार्धं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रितं किञ्चिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्णं बाहल्यतोऽप्यधः क्वचिद् देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्यं जायते ।

इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते—तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्वर्त्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जुविस्तरे उपर्यलोकसमीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जूच्छ्रिते बुद्ध्या गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपेणैव वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एवं च कृते उपरितनं लोकस्यार्धं द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम्, इह चतुर्णां खण्डानां पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्यां दिशि [1]योजिताभ्यां द्वाभ्यामप्येक एवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवापराभ्यामपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमुक्तम्, देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र त्वनियतबाहल्यम्, इदं च सर्वं गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । एवं च योजिते आधस्त्यखण्डस्योच्छ्रये यद् इतरोच्छ्रयाधिकं तत् खण्डयित्वोपरितनसङ्घातितखण्डस्य बाहल्ये ऊर्ध्वायतं संयोज्यते, एवं च सातिरेकाः पञ्च रज्जवः क्वचिद् बाहल्यं सिध्यति । तथा आधस्त्यखण्डमधस्ताद् यथासम्भवं देशोनसप्तरज्जुबाहल्यं प्रागुक्तम्, अत उपरितनखण्डबाहल्याद् देशोनरज्जुद्वयमत्राधस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूपं गृहीत्वोपरितनखण्डबाहल्ये सङ्घात्यते, एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतत् चतुरस्रीकृतनभःखण्डं कियत्यपि प्रदेशे रज्ज्वसङ्ख्येयभागाधिकाः षड् रज्जवो भवन्ति, व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुबाहल्यमिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिदूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्तादिमानं व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यध्यवस्यति, स्थूलदृष्टित्वादिति भावः । अत एतन्मतेनैवात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आयामविष्कम्भाभ्यां तु प्रत्येकं देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिदं जातम्, व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज्जुप्रमाणता द्रष्टव्या । तदेवं लोको व्यवहारनयमतेन अत्रायाम-विष्कम्भ-बाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जुप्रमाणो घनो भवतीति समुदायार्थः । एतच्च वैशाखसंस्थानस्थितपुरुषाकारं सर्वत्र वृत्तस्वरूपं लोकं संस्थाप्य सर्वं भावनीयमिति ।

प्ररूपितो घनः । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—"तदीहेगपएसा सेढि" त्ति स एव घनी-

---

१ मुद्रि० छा० ०योजिताभ्या द्वा० ॥

कृतलोकः सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घं दैर्घ्यं यस्याः सा तद्दीर्घा, एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वाद् निर्देशस्यैकैकाकाशप्रदेशा शूचिः श्रेणिरित्युच्यते। एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषितायाः श्रेणेः सामान्येन ग्रहणं तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य सम्बन्धिनी इयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एकप्रादेशिकीश्रेणिर्ग्राह्या।

अधुना प्रतरं प्ररूपयितुमाह---'प्रतरश्च' प्रतरः पुनः कः? इत्याह---'तद्वर्गः' तस्याः-शूचिस्वरूपायाः श्रेणेर्वर्गः-शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः। कोऽर्थः? शूच्या शूचेर्गुणनं प्रतर उच्यते। तद्यथा---इहासङ्ख्येययोजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रमाणा द्रष्टव्या [०/०/०] तस्याश्च तथैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशात्मको भवति। स्थापना-[०००/०००/०००] इति ॥९७॥

निरूपितः सप्रपञ्चं प्रदेशबन्धस्तत्स्वामी च। तन्निरूपणे च समर्थिता "नमिय जिणं धुववंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता। सेयर चउह विवागा, वुच्छं बंधविह सामी य॥" इति आद्यद्वारगाथा। अधुना च-शब्दसूचितामुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं च व्याचिख्यासुः प्रथमं तावदुपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह----

'अण दंस नपुंसित्थी, वेय छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते--अविरतसम्यग्दृष्टि -देशविरत--प्रमत्ताऽप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म शुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते। तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः; अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थान-(ग्रन्थाग्रम् -४०००)कम्; स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनं करोति। इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति। तद्यथा----यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं चतुर्थी तूपशान्ताद्धा। तत्र यथाप्रवृत्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धा-

---

१ गाथेयं आवश्यकनिर्युक्तौ ११६ तमा। अस्या गाथायाष्टीका तु सप्ततिकाप्रकरणस्य "पढमकसाय चउक्कं" इत्यस्या गाथायाष्टीकासमा॥

दिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात्। प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः। एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति।

स्थापना चेयम्—

१२०००००००००००१६
१०००००००००००००१५
८००००००००००१४
६०००००००००१३
४००००००००११
३०००००००९
२०००००७
१००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैकः सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या। तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भवति। ततः सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धेः सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरितनं जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरितनं जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशुद्धिस्थानम्। ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम्।

भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम्। सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि। तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा। ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा। स्थापना चेयम्—

२५००००००००००२६
२३००००००००००२४
२१००००००००००२२
१९०००००००२०
१७०००००१८

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रममन्यं स्थितिबन्धं च युगपदारभते। तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिम-

भागाद् उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तमुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्डयत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तमुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तमुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तमुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तमुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं यावदन्तमुहूर्तचरमसमयः; तच्चान्तमुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति ।

तथा गुणसङ्क्रमो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद् दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः ।

तथाऽन्यः स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यातः । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

व्याख्यातमपूर्वकरणम्, इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते—अनिवृत्तिकरणं नाम—यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये

ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः। अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिः व्यावृत्तिर्न विद्यत इत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम। अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि। एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि—।०००००। अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्थाः युगपत् प्रवर्तन्ते। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तमुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तमुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगतं च दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते। तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तमुहूर्तं कालम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति। उपशमिता नाम—यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निःस्पन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-निधत्ति-निकाचनकरणानामयोग्यो भवति। तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता।

अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव। विसंयोजना—क्षपणा। सा चैवम्—इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्चतुर्गतिका अपि। तद्यथा—नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयः, तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा, मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत्। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा॥ (गा० ३४३)

अस्या अक्षरगमनिका—'चतुर्गतिकाः, नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवाः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः 'त्रयोऽपि' अविरत-देशविरत-सर्वविरताः। तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिकाः, देशविरता-

स्तिर्यञ्चो मनुष्या वा, सर्वविरता मनुष्या एव । 'संयोजनान्' अनन्तानुबन्धिनः 'विसंयोजयन्ति' विनाशयन्ति । किंविशिष्टाः सन्तः ? इत्याह—'करणैस्त्रिभिः' यथाप्रवृत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरैः सहिताः । नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम्, उपशमो वा, उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः ॥

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति, आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति ।

तदेवमुक्ताऽनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना। सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयतः, सा चैवम्—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति । नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः । गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवं वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा, यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते, साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति । आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते, ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

[1]चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मदिट्ठी होहिई ताहे विइयठिइं तिहाणुभागं करेइ। तं जहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। इति।

स्थापना-[ooo]। ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

[2]मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (गा० ३३०)

अन्यत्राप्युक्तम्—

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, सात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात्॥

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

[3]सम्मत्तपढमलंभो, सव्वोवसमा—(कर्मप्र० गा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

[4]सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च को वि पडिवज्जे। (गा० ७६०)

बृहच्छतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—

[5]उवसमसम्मद्दिट्ठी, अंतरकरणे ठिओ कोइ॥
देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तापमत्तभावं पि।
सासायणो पुण न किं पि लहेइ। इति।

ततो देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते।

---

१ चरमसमयमिथ्यादृष्टिरेष्यत्काले औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधाऽनुभागं करोति। तद्यथा-सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च॥ २ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः। लाभेन यस्य लभ्यते आत्महितमलब्धपूर्वं यत्॥ ३ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात्॥ ४ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्यते॥

५ औपशमिकसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि॥ देशविरतिमपि लभते कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि। सास्वादनः पुनर्न किमपि लभते॥

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक-सम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तमुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकायां तथा वेदितव्यः ।

एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति । करणानां च स्वरूपं प्राग्वत् । केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । अत्रापि स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते । नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते । अत्र चान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेदः, सर्वकर्मणां देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रम् । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने च परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं, तत्तु ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तमुहूर्तमात्रेणोपशमयति, ततोऽन्तमुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदम्, ततोऽन्तमुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कम्, तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति । ततो युगपदन्तमुहूर्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरण-प्रत्या-

ख्यानावर[1]णक्रोधावुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनक्रोधोदय- उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनक्रोधमुपशमयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमानमुपशमयति । ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमायामुपशमयति। ततो युगपदप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति, तत्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः संज्वलनलोभमुपशमयंस्त्रिधा करोति, द्वौ भागौ युगपदुपशमयति, तृतीयभागं सङ्ख्येयखण्डानि करोति, तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति, पुनः सङ्ख्येयानां खण्डानां किट्टीत्यपरपर्यायाणां चरमखण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीत्यपरपर्यायाणि करोति; ततः समये समये एकैकं खण्डमुपशमयतीति। इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावद् लोभस्यासङ्ख्येयान्तिमचरमखण्डमिति ।

प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना । सम्प्रति गाथार्थो विव्रियते—इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति—अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति । श्रेणिपरिसमाप्तौ चाविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति । स च प्रथमं युगपत् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभानुपशमयति । ततो दर्शनं दर्शस्तं दर्श—मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यग्दर्शनं युगपदुपशमयति । ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदम् । यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पश्चात् स्त्रीवेदम्, ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, ततः पुरुषवेदम्, अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततः स्त्रीवेदमिति; अथ नपुंसक एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततो नपुंसकवेदमिति । पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यौ 'एकान्तरितौ' संज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ 'सदृशौ, तुल्यावुपशमयति । अयमर्थः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपद् उपशमयति, ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमानम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमायाम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यावरणलोभौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनलोभमिति । स्थापना चेयम्—

---

१ सं. १-२ त० म० छा० ०णक्रोधौ तदु० ॥

सञ्ज्व० लोभ

अप्र० लोभ | प्र० लोभ

संज्व० माया

अप्र० माया | प्र० माया

संज्व० मान

अप्र० मान | प्र० मान

संज्व० क्रोध

अप्र० क्रोध | प्र० क्रोध

पुरुषवेद

हास्य | रति | अरति | शोक | भय | जुगुप्सा

स्त्रीवेद

नपुंसकवेद

मिथ्या. मोह | मिश्रमोह० | सम्य. मोह०

अनं० क्रोध | अनं० मान | अन० माया | अन० लोभ

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमः, अनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्राप्तावेवोपशमितत्वाद् न युज्यते, न, दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति । आह—क्षयोपशम-उपशमयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः, प्रदेशानुभवतस्तु उदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह

भाष्यपीयूषपाथोधिः—

[1]वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएऽत्थ नाणुभावं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥
(विशेषा० गा० १२९३)

अन्यत्राप्युक्तम्—

उवसंतं कम्मं जं, न तओ कड्ढेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु ॥

अस्या अक्षरगमनिका—सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयं कर्म, अन्यस्य सर्वोपशमायोगात्, "[2]सव्वोवसमो मोहस्स चेव[3]" इति वचनात्, 'न तदपकर्षति' न तदपवर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः । अपि-शब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् नाप्युदये तद् ददाति नापि तद् वेदयतीत्यर्थः, उपलक्षणात् तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन 'गमयति' सङ्क्रमयति ।

१ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकोऽत्र नानुभाव सः । उपशान्तकषाय पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥
२ सर्वोपशमो मोहस्य चैव ॥ ३ एतद्वाक्यं कर्मप्रकृत्याः ३१५ तमगाथया संवादि ॥

न च तत् कर्म उपशान्तं सद् 'उत्कर्षयति' उद्वर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां वृद्धिं नयति, निधत्ति-निकाच[1]नयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वाद् नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति।

आह––संयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत् कथमुपशमः ? इति उच्यते––स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति। तथा चाभ्यधायि **परमगुरुणा**–

"[2]जीवे णं भंते ! सयंकडं कम्मं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं न वेएइ। से केणट्ठेणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे कम्मे पन्नते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ" इत्यादि।

ततश्च प्रदेशकर्मानुभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्यः। आह––यद्येवं संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवति ? इत्युच्यते–प्रदेशकर्मणो मन्दानुभावत्वात्। तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभावोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन् उपलभ्यते, यथा सम्पूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति। ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्ट्युपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति, तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः, ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति, स च जघन्येनैकं समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्विधा––भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भव[3]क्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम्। कश्चित् पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्वयं याति, कोऽपि सास्वादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेषः। उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः। यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि। उक्तं च **सप्ततिकाचूर्णौ**––

"[4]जो दुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसिं

---

१ सं०१-२त०म० छ० ०नाया०॥ २ जीवो भदन्त ! स्वयंकृत कर्म वेदयति ? गौतम ! अस्त्येककं वेदयति अस्त्येककं न वेदयति। अथ केनार्थेन ? पृच्छा, गौतम ! द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रदेशकर्म चानुभागकर्म च। तत्र यत प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति, तत्र यदनुभागकर्म तदस्त्येककं वेदयति, अस्त्येकक न वेदयति॥ ३ मुद्रि० -क्षयो भवक्षयेण म्रिय-॥ ४ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति। य सकृदेवोपशमश्रेणि प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणि. भवेत्॥

उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जा इति ।

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । उक्तं च कल्पाध्ययने—

[1]एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ (बृहत्कल्पभा० गा० १०७)

सर्वाणि सम्यक्त्व-देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन् , भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ॥ ९८ ॥

तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । सम्प्रति क्षपकश्रेणिमभिधित्सुराह—

अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुजोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥

इह क्षपकश्रेणिप्रतिपत्ता मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽविरतादीनामन्यतमोऽत्यन्तविशुद्धपरिणाम उत्तमसंहननः । तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, अपरे तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—अविरतो देशविरतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयतो वा प्रथममन्तर्मुहूर्तेन "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभान् युगपत् क्षपयति । तदनन्ततमभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्वं सहैव तदंशेन युगपत् क्षपयति । यथा ह्यतिसम्भृतो दावानलः खल्वर्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति, एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् सावशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयतीति । एवं पुनः "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति, ततोऽनेनैव क्रमेण सम्यक्त्वं क्षपयति। सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत् , सम्प्रत्यन्यतमस्यां गच्छति । तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

उक्तं च—

[2]पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभतेऽनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युपरमति, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्या-

---

१ एवमपरिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मनोः । अन्यतरश्रेणिवर्जमेकभवेन च सर्वाणि (प्रतिपद्यते) ।
२ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥

त्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च–

[1]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूओ न खीणम्मि ॥ (विशेषा० गा० १३१६)
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च–

[2]बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५) इति ।

आह परः–ननु मिथ्यादर्शनादिक्षये किमसावदर्शनो जायते ? उत न ? इति, उच्यते–सम्यग्दृष्टिरेवासौ । आह–ननु सम्यग्दर्शनपरिक्षये कुतः सम्यग्दृष्टित्वम् ? उच्यते–निर्मदनीकृतकोद्रवकल्पा अपनीतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यग्दर्शनं तत्परिक्षये च तत्त्वश्रद्धानलक्षणपरिणामाप्रतिपातात्, प्रत्युत श्लक्ष्णाभ्रपटलापगमे चक्षुर्दर्शनवद् विशुद्धतरापत्तेः ।

यदाह **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

[3]खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ तिदंसणाईओ ? ।
भन्नइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ? ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
खीणं न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सणहसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥

---

१ बद्धायु प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । तदा मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चान्नानामतिगती ॥ २ बद्धायुः प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ३ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति स त्रिदर्शनातीतः ? । भण्यते, सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्त्वक्षये कुतः सम्यक्त्वम् ? ॥ निर्मदनीकृतमदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीणं न तु यो भाव, श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्वपुद्गलक्षयतः । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगतं दुग्धं शुद्ध जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्यशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमेवम् ॥ तस्मिंश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिध्यति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुग्मिपु गतिरिदं तु जिनकालीननराणां ॥

यदि वा—

जह सुद्धजलाणुगयं, दुद्धं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं एवं ॥ (विशेषा० भा० गा० १३१८-२१)
तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥

तदेवं सप्तकक्षयोऽविरतसम्यग्दृष्टौ देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते वा प्राप्यते । यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीय-क्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च भाष्यकृता—

[1]इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलं सेढिं समाणेइ । (विशेषा० भा० गा० १३२५)

तत्र यः सकलश्रेणिं करोति तस्य क्षपकस्य निजनिजभवे सुर-नारक-तिर्यगायुस्त्रयं व्यवच्छिन्नमेव । उक्तं च—

[2]सुरनरयतिरियआउं, निययभवे सव्वजीवाणं ॥ इति ।

एतदेवाह—"तिआउ" त्ति देवायुः-नारकायुः-तिर्यगायुर्लक्षणमायुस्त्रयम्, स च क्षपकः स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एव "अड" त्ति अष्टप्रकृतीः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा युगपत् क्षपयितुमारभते । एतासु चार्धक्षपितास्वेवान्तराले त्रयोदश नामप्रकृतीस्तिस्रो दर्शनावरण-प्रकृतीरुभयोः षोडश प्रकृतीः क्षपयति । तथाहि—"इगविगल" इत्यादि । "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् विकलत्रिकम्—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-लक्षणं स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं "जोयं" त्ति उद्योतनाम, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं--तिर्यग्गति--तिर्यगानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं--नरकगति-नरकानुपूर्वीरूपं स्थावरद्विकं--स्थावर-सूक्ष्माख्यं "साहार" त्ति साधारणनाम आतपनामेति । ततो यदष्टानां कषायाणां यावदवशिष्टं तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एष सूत्रादेशः । अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति, ततो "नपु" त्ति नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः स्त्रीवेदमिति ॥ ९९ ॥

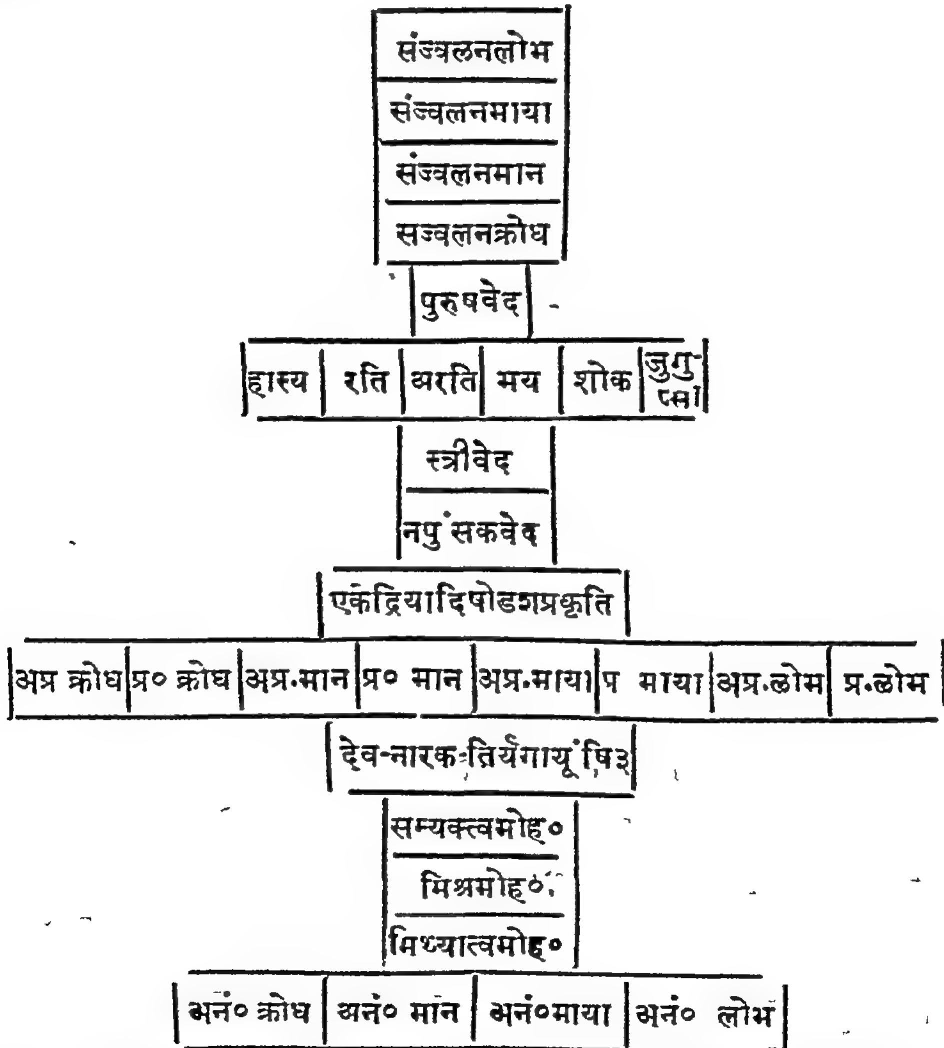
छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, ततः पुंवेदं खण्डत्रयं करोति, तत्र खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्डं तु संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः ।

---

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ २ सुरनिरयतिर्यगायूंषि निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥

अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम् , ततो हास्यादिषट्कम् ,ततः स्त्रीवेदम् । अथ नपुंसकः प्रारम्भकः ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम् , ततो हास्यादिषट्कम् , ततो नपुंसकवेदम् । ततः संज्वलनान् क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमात्रकालेनोक्तेनैव न्यायेन क्षपयति । श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, अन्तर्मुहूर्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात् । लोभचरमखण्डं तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमखण्डं पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि समये समय एकैकं क्षपयति । स्थापना चेयम्—



इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावच्चरमलोभखण्डमिति, तत ऊर्ध्वमसङ्ख्येयखण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभाणुक्षयः, तत ऊर्ध्वं यथाख्यातचारित्री, स च महाप्रतरणपरिश्रान्तवद् मोहसागरं तीर्त्वा विश्राम्यति । ततश्छद्मस्थवीतरागत्वद्विचरमसमये "दो निद्द" त्ति 'द्वे निद्रे' निद्रा-प्रचलालक्षणे क्षपयति, ततश्चरमसमये

"विग्घवरणक्खए" त्ति विघ्नानि–दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि "वरण" त्ति प्राकृतत्वादाकारलोपे आवरणानि—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणाऽवधिज्ञानावरण मनःपर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव, ततो विघ्नानि चावरणानि च विघ्नावरणानि तेषां क्षये—निर्मूलोच्छेदेन 'ज्ञानी' केवलज्ञानी भवति। यदाहुः **श्रीमदाराध्यपादाः**—

[1]चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंसणं चउवियप्पं ।
पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ ॥ (आव० नि० गा० १२६)

इदमुक्तं भवति—अविरतादीनामन्यतरः प्रथमसंहननः सुविशुद्धपरिणामः क्षपकश्रेणिमारूढो गुणस्थानक्रमेणानन्तानुबन्ध्यादीनुक्तप्रकारेण क्षपयन् यावत् क्षीणमोहचरमसमये विघ्नपञ्चक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कं क्षपयित्वा सर्वसङ्ख्यया तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयाष्टाविंशति-आयुस्त्रिक—नामप्रकृतित्रयोदशकाऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिषष्टिप्रकृतीः क्षपयित्वा केवलज्ञानी भवति। स च भगवान् भवस्थकेवली लोकमलोकं सर्वं सर्वात्मनाऽविकलविमलकेवलेन पश्यति, न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान्न पश्यति। यदाहुः **श्रीमदाराध्यपादाः**—

[2]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य अयोगिकेवलिगुणस्थानकमारुह्य तद्द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीः तच्चरमसमये त्रयोदशप्रकृतीश्च क्षपयित्वा शिवमचलमरुजमक्षयमव्याबाधममन्दानन्दरत्नसारमासादयतीति, उक्ता क्षपकश्रेणिः। तद्भणने च व्याख्याता "नमिय जिणं धुवबंधोदयसंता" इत्यादिद्वारगाथा। सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामकं **शतकशास्त्रं समर्थयन्नाह**—"देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठ" त्ति देवेन्द्रसूरिणा—करालकलिकालपातालतलावमग्नाद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितम्—अक्षरविन्यासीकृतम्, कर्मप्रकृति-पञ्चसङ्ग्रह-बृहच्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेषः। किम्? इत्याह—'शतकं' शतगाथाप्रमाणम् 'इदम्' अधुनैव व्याख्यातस्वरूपम्। किमर्थम्? इत्याह—'आत्मस्मरणार्थम्' आत्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥१००॥

॥ इति श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका ॥

---

१ चरमे ज्ञानावरणं पञ्चविध दर्शनं चतुर्विकल्पम्। पञ्चविधमन्तराय क्षपयित्वा केवली भवति॥
२ संपूर्णं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तन्नास्ति यन्न पश्यति भूतं भवद्भविष्यद्वा॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
शतमखशतकप्रणतः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
लब्धिशतसिन्धुजलधिः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बू-प्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणाः, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
स्वोपज्ञशतकटीका, सुबोधेयं विनिर्ममे ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति-श्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥
यद् गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥
स्वोपज्ञशतकटीकां, कृत्वेमां यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
ध्रुवबन्धादिविमुक्तः, समस्तु सर्वोऽपि तेन जनः ॥

समाप्तोऽयं स्वोपज्ञटीकोपेतः शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ अर्हम् ॥

नम कर्मतत्त्ववेदिभ्यः पूर्वसूरिभ्यः।

महर्षिश्रीमच्चन्द्रर्षिमहत्तरविरचितं

सप्ततिकाप्रकरणम् ।

पूज्यश्रीमन्मलयगिरिमहर्षिविनिर्मितविवृतिसमलङ्कृतम् ।

ॐ सर्वविदे नमः ।

अशेषकर्मांशतमःसमूहक्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः ।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः, प्रभुः स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपनः ।
कुश्रुत्यातपतप्तानां, सान्द्रो मलयमारुतः ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः ।
ततः स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥
अहर्निशं चूर्णिविचारयोगाद्, मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।
निरन्तरं कुम्भनिघर्षयोगाद्, ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षम् ॥

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत् । ततः सप्ततिकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम्, तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथञ्चित् प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, ततस्तेषां प्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिकं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सिद्धपएहिँ महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
[1]वोच्छ सुण संखेवं, [3]नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥ १ ॥

सिद्धं—प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थः । ततः सिद्धानि पदानि येषु ग्रन्थेषु ते सिद्धपदाः—कर्मप्रकृति-प्राभृतादयः, न हि तेषां पदानि कैश्चिदपि चालयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञोक्तार्थानुसारित्वात् तेभ्यो बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपं वक्ष्ये । अथवा स्वसमये

१ ०स० १ त० ०त तत्र प्रव० ॥ २ स० १ त० म० छा० वुच्छं ॥ ३ स० १ त० निस्संद ॥

सिद्धानि–प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणिपदानि तानि सिद्धपदानि, तेभ्यः तान्याश्रित्य तेषु विषय इत्यर्थः। अत्र स्थाने "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहे० २–२–७४) इति सूत्रेण पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र। तत्र बन्धो नाम–कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः[1] १। कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदयः २। तथा बन्धसमयात् सङ्क्रमेणात्मलाभसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र सङ्क्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावद् तेषां[2] स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता ३। सदिति सूत्रे निर्देशो भावप्रधानः, तेन सदिति सत्ता व्याख्याता। प्रकृतीनां स्थानानि–समुदायाः प्रकृतिस्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची। बन्ध-उदय-सत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये। तं च वक्ष्यमाणं शृणु। 'शृणु' इति क्रियापदं च श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु सुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थम्। तदुक्तम्—

[3]अणुवत्तणाएँ सेहा, पायं पावेंति जोग्गयं परमं।
रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेणं॥
एत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न होंति?।
जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति॥
को नाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए।
दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं बेंति॥ (पञ्चव० गा० १७–१९)

संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह—'महार्थं' महान्–प्रभूतोऽर्थः–अभिधेयं यस्य स महार्थः। ननु संक्षेपो विस्तरार्थसङ्ग्रहरूपः, ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थं महार्थमिति विशेषणम्? तदयुक्तम्, संक्षेपस्यान्यथाऽपि सम्भवात्। तथाहि—आख्याना-ऽऽलापक-सङ्ग्रहण्यः संक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्थाः, तत्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात्, ततस्तत्कल्पममुं संक्षेपं मा ज्ञासीद् विनेयजन इत्यमहार्थत्वाऽऽशङ्कापनोदार्थं महार्थमिति विशेषणम्।

---

१ सं० १ त० ०मः।। तथा कर्म० ॥ २ सं० १ स० त० म० छा० ०षां स्वरूपेण ॥

३ अनुवर्तनया शैक्षाः प्रायः प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम्। रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति?। यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्वं तस्य सफलमिति॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत्?। दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति स सारथिं ब्रुवते॥

पुनरप्यमुं विशेषयति—'निस्यन्दं दृष्टिवादस्य' दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूतं—निस्यन्दकल्पम् । दृष्टिवादो हि परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ रूपपञ्चप्रस्थानः । तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत् पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् कर्मप्रकृतिनामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमय प्राभृतं तस्यादिमे त्रयो बन्धादयः सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते । ततोऽयं बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूपः । अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन वीरवर्धमानस्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहितः, सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना, तन्निस्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति ॥ १ ॥

ननु बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकम् ? आहोस्वित् संवेधरूपः ? उच्यते—संवेधरूपः, तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति—

कइ बंधंतो वेयइ, कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥ २ ॥

कतिशब्दः परिमाणपृच्छायाम् । कति कर्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते ? कति वा तथातथाबध्नतो वेदयमानस्य च 'प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि' प्रकृतिसत्तास्थानानि ? । एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सति आचार्योऽस्मिन् विषये भङ्गजालमनेकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत् प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह—"मूल" इत्यादि । मूलप्रकृतिषु—ज्ञानावरण-दर्शनावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणादिरूपासु, उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्ध उदय-सत्ता-संवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु बहवो भङ्गाः सम्भवन्ति, ते चास्मिन् प्रकरणे यथावद् विविक्त्येन प्रतिपाद्यमानाः सम्यग् बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ, तद्यथा——ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् आयुः नाम गोत्रम् अन्तरायं च । तत्र ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानं—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः, आव्रियतेऽनेनेत्यावरणं—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम् १ । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, तस्यावरणं दर्शनावरणम् २ । तथा वेद्यते—आह्लादादिरूपेणानुभूयते यत् तद् वेदनीयं, यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते न शेषम् ३ । तथा मोहयति—सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनीयः ४ । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति—आगच्छति प्रति-

बन्धकृतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतिनिष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः, उभयत्रापि औणादिको [1]णुस् प्रत्ययः ५ । तथा नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ६ । तथा गूयते—शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् ७ । तथा जीवं दानादिकं चान्तरा एति न जीवस्य दानादिकं कर्तुं ददातीत्यन्तरायम् ८ । एता मूलप्रकृतयः ।

एतासु प्रथमतो बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते, प्रकृतिस्थानेषु हि प्रथमं प्ररूपितेषु सत्सु तदाश्रितः संवेधः प्ररूप्यमाणः सुखेनैवावगन्तुं शक्यते । तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धं प्रतीत्य [2]चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त षड् एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां च [3]बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त, एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद्, उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवाष्टावायुः-मोहनीयवर्जाः षट्, एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—एतासामु[4]क्तरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्पराये, स च उपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं [5]सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत्, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् ।

स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः? इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः ।

तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा कृता । सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कति प्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते? इति निरूप्यते—तत्रायुषि बध्यमानेऽष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते । मोहनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त वा । तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयः, ता एवायुर्वर्जाः सप्त । ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षड् वा । तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव । मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जाः षट्, ताश्च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । वेदनीये तु बध्यमानेऽष्टौ

१ सं० णुसु प्र० ॥ २ सं० १ त० °त्वारि बन्धस्था° ॥ ३ स० मुद्रि० बन्धोऽजघ° ॥
४ मुद्रि० °क्तस्वरूपा° एवमग्रेऽपि ॥ ५ सं० १ त० सप्तानां प्रकृ° ॥ ६ स०१त०म० °कस्योप° ॥

सप्त षड् एका च । तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव । एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः, सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते । उक्तं च—

[1]आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए ।
वज्झंतयम्मि वज्झति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ ॥ (पञ्चसं० गा०८३८)

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते--उदयं प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिसपर्यवसानः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः । तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—सप्तानामुक्तस्वरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत् प्राप्यते । उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौहूर्तिकत्वात् तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः, तासामुदयो जघन्येनान्तर्मौहूर्तिकः, उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ।

तदेवं कृता उदयमधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते-तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामप्युदयः, मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां सप्तानां वा । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणामुदयेऽष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च ।

सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते--सत्तां प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना । तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता, [2]सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानकं चान्तर्मुहूर्त-

१ आयुषि अष्टौ मोहेऽष्टौ सप्तैकं च षडादयो वा तृतीये । बध्यमाने बध्यन्ते शेषेषु षट् सप्ताष्टौ ॥
२ स० १ मुद्रि० सा चाज° ॥

प्रमाणमिति। घातिकर्मचतुष्टय[1]क्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना ।

कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ सत्यां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—मोहनीये सत्यष्टानामपि सत्ता, ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां सत्तायां अष्टानां सप्तानां वा सत्ता । तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, मोहनीये क्षीणे सप्तानां, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके । वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता । तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव, चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव, सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या ॥२॥

सम्प्रति बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधप्ररूपणार्थमाह—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं[2] ।
एगविहे तिविगप्पो, एगविगप्पो अबंधम्मि ।३॥

अष्टविधबन्धक-सप्तविधबन्धक-षड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाष्टौ कर्माणि प्राप्यन्ते । कथम् ? इति चेद् उच्यते--इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः, सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानाः, षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसम्परायाः, एते च सर्वेऽपि सरागाः । सरागत्वं च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्यं सत्ता, ततो मोहनीयोदये सत्तासम्भवाद् अष्टविध-सप्तविध-षड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां चाष्टौ प्राप्यन्ते । एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिताः, तद्यथा---अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता । एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयो न शेषाणाम्, आयुर्बन्धासम्भवात् । तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धाभावे, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामवसेयः । तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायाणाम् । "एगविहे तिविगप्पो" त्ति 'एकविधे' एकप्रकारे बन्धे एकस्मिन् केवले वेदनीये बध्यमाने इत्यर्थः, 'त्रिविकल्पः' इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा—एकविधो बन्धः सप्तविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्योदयो न विद्यते, सत्ता पुनरस्ति । तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्य निःशेषतोऽपगमात् । तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्च-

---

१ त० छा० मुद्रि० °क्षये चत° ॥ २ स० त० °दयसत्ता° ॥

तुर्विधा सत्ता, एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्था[1]नके, तत्र घातिकर्मणाम[2]नवयवशोऽपगमात् चतसृणां चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्तायां च प्राप्यमाणत्वात् । "एगविगप्पो अबंधम्मि" त्ति 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्पः, तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय-सत्ते चाघातिकर्मणां भवतः ॥३॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधे सप्त विकल्पा उक्ताः । सम्प्रति एतानेव जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा, दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः १ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः २ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ४ अपर्याप्तद्वीन्द्रियः ५ पर्याप्तद्वीन्द्रियः ६ अपर्याप्तत्रीन्द्रियः ७ पर्याप्तत्रीन्द्रियः ८ अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रियः १० अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः ११ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १२ अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १३ पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १४ इति । एतानि च सप्रपञ्चं षडशीतिकवृत्तौ व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते ।

तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा—सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते; अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिकः, आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । "एगम्मि पंच भंग" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्च भङ्गा भवन्ति । तत्रादिमौ द्वौ भङ्गौ प्रागिव भावनीयौ, त्रयस्तु शेषा इमे- षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा वर्तमानस्य वेदितव्यः, तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते; तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष च क्षीणमोहगुणस्थानके । तथा द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनः, तद्यथा- एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः सयोगिकेवलिनः, बन्धाभावे चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनः । इह केवलिग्रहणं संज्ञिव्यवच्छेदार्थम्, द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनो न तु संज्ञिन इत्यर्थः । अत एव च केवलिग्रहणादिदमवसीयते केवली मनोविज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति ॥४॥

---

१ स० छा० °नके प्राप्यते तत्र ॥ २ सामस्त्येनेत्यर्थः ॥

सम्प्रति तानेव सप्त विकल्पान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह----

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदयसंतकम्माणं ॥५॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश, तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते। तत्राष्टसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणामेको विकल्पो भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्माद् न भवति ? उच्यते---स्वभावत एवैषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात्। सूक्ष्मसम्पराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, सूक्ष्मसम्परायो हि बादरकषायोदयाभावाद् आयुर्मोहनीयं च न बध्नाति, ततस्तस्य षड्विध एव बन्धो भवति। उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, यत उपशान्तमोहः कषायोदयाभावाद् न ज्ञानावरणीयादि बध्नाति, किन्तु वेदनीयमेकं केवलम्, ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति, मोहनीयस्य[1] चोपशान्तत्वेनोदयाभावाद् उदयः सप्तविधः। क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, अत्र मोहनीयं क्षीणत्वाद् उदये सत्तायां च न प्राप्यते, ततः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता। सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भवति, ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधै[2]व सत्ता। अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात्, ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता। तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु 'गुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टि-सासादनाऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ताऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा—अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते। तथा-सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते ॥ ५ ॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्तः स्वामित्वं च। सम्प्रति उत्तरप्रकृतीरधिकृ[3]त्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधः प्रोच्यते[4] —

१ सं० १ त० °यस्योप° ॥ २ छा० मुद्रि० °व च सत्ता ॥ ३ सं० °त्य प्रोच्य° ॥
४ इत ऊर्ध्वम्—'पंच नव दुन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला। दुन्नि य पंच य भणिया, पयडीओ आणुपुव्वीए॥" इत्यष्टकर्मोत्तरप्रकृतिसूचकं गाथासूत्रं अस्मत्पार्श्ववर्तित्रिपाठपुस्तकादर्शेष्वेव दृश्यते, चिरन्तनताडपत्रीयकागदोपरिलिखितसूत्रगाथाटीकामिश्र (गूढ) पुस्तकादर्शेषु तु नोपलभ्यते। यदत्र

उत्तरप्रकृतयश्चेमाः, तद्यथा—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणम्, एताश्च पञ्चापि ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः। "मन ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते-इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानं तस्यावरणं मतिज्ञानावरणम् १ । श्रवणं-श्रुतं अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, "एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थम्" इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः [1]शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम् २ । तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधिः, यद्वा अवधिः-मर्यादा, रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमपि अवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं च अवधिज्ञानं तस्यावरणं अवधिज्ञानावरणम् ३ । तथा [2]परिः-सर्वतोभावे, अवनं अवः, तुदादिभ्योऽनकावित्यधिकारे अकितौ चेत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यव[3]श्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, इदं चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्, मनःपर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनसः पर्यायाः-बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं वा ४ । तथा केवलम्—एकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "[4]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलं अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्, केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम्, तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम् ५ ॥

दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतयः, तद्यथा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिः ५ चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ अचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ अवधिदर्शनावरणं ८ केवलदर्शनावरणं च ९ । तत्र "द्रा कुत्सायां गतौ" नितरां द्राति—कुत्सितत्वम् अविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां सा निद्रा, भिदादित्वादङ्, यस्यां नखच्छोटिकामात्रेण स्वप्तुः प्रबोध

श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिरष्टकर्मोत्तरप्रकृतीनां विवेचनं कृतमस्ति तद् यद्यपि उपर्युक्तगाथानुसारि दृश्यते तथापि तद्विहितान्यगाथाव्याख्यानशैल्या अस्यामदर्शनात् प्रसङ्गतः कृतमिति प्रतिभाति । अतः सम्भाव्यते केनापि विदुषा अष्टकर्मोत्तरप्रकृतिनिबद्धं गाथासूत्रं प्रक्षिप्तमिति ॥ १ स० १ त० म० °मशब्दा° ॥ २ स० १ त० म० °परि सर्व° ॥ ३ त० छा० °वश्च तद् ज्ञा° ॥ ४ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात् १। तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वाद् मध्यपदलोपी समासः, तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोध उपजायते, अतः सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २। तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति–विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३। तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, अत्रापि मध्यपदलोपी समासः, एषा हि चङ्क्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते, ततः स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४। तथा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धिः–आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैतत् कथानकमागमे–

क्वचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततः स तस्मिन् बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि।

तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः ५। तथा चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् ६। अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् ७। अवधिरेव दर्शनं–रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ८। केवलमेव–सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनम्, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति। आह च गन्धहस्ती–

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तु उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति॥

(तत्त्वा० अ० ८ सू० ८ भाष्यटी० भाग० २ पत्र १३५)॥

वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती, तद्यथा—सातवेदनीयमसातवेदनीयं च। तत्र सातं–सुखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् सातवेदनीयम् १। असातं–दुःखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् असातवेदनीयम् २॥

मोहनीयस्योत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः। मोहनीयं हि द्विधा, तद्यथा—दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च। दर्शनमोहनीयमपि त्रिधा, तद्यथा—मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च। तत्र

---

१ सं १ त० म० ०ष्टय उद्गमोच्छेदित्वात समूलघातं दर्श० ॥

यदुदयाद् जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तद् मिथ्यात्वम् १ । यदुदयात् पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति, मतिदौर्बल्यादिना सम्यगसम्यग् वा एकान्तेन निश्चयाकरणतः सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत् सम्यग्मिथ्यात्वम् २ । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—

[1]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइखुहाइयस्स वि पुरिसस्स एत्थं ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छदिट्ठिस्स वि जीवादिपयत्थाणं उवरिं न रुई न य निंदा इत्यादि ।

यदुदयात् पुनः सम्यग् जिनप्रणीतं तत्त्वं श्रद्धत्ते तत् सम्यक्त्वम् ३ । चारित्रमोहनीयं पुनर्द्विधा, तद्यथा—कषाया नोकषायाश्च । तत्र कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः--संसारः, तमयन्ते--गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदाच्चतुर्विधाः तत्रा[2]नन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । [उक्तं च----

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् । ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ॥]

तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात् तेऽप्रत्याख्यानाः । उक्तं च---

नाल्पमप्युत्सहेद् येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥

तथा प्रत्याख्यानं--सर्वविरतिरूपं आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः, कृत् "बहुलं" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनट्, सर्वविरतिविघातिनो देशविरतिनिबन्धना इत्यर्थः । उक्तं च--

सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते । तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि सम्--ईषद् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः । [उक्तं च--

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी । समीषज्ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलनाः स्मृताः ॥]

चत्वारश्चतुर्गुणिताः षोडश भवन्तीति कृत्वा षोडश कषायाः ।

तथा क[3]षायसहचारिणो नोकषायाः । नोशब्दोऽत्र सहचारवाची । कषायसहचारित्वं च कषायैः सह सदा वर्तनात् कषायोद्दीपनाद्वा । उक्तं च--

क[4]षायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

१ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधार्दितस्यापि पुरुषस्य अत्र ओदनादिकेऽनेकविधे ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुत., एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

२ स० स० १ त० ० नन्तससा० ॥ ३ स० १ त० म० ०षायैः सह ॥ ४ मुद्रि० ०पायैः सह ॥

ते च नोकषाया नव, तद्यथा---वेदत्रिकं हास्यादिषट्कं च। तत्र वेदत्रिकं -स्त्रीवेदः पुरुष-वेदो नपुंसकवेदश्च। तत्र यदुदयात् स्त्रियाः पुंस्यभिलापः पित्तोदये मधुराभिलापवत् स स्त्रीवेदः १। यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलापः श्लेष्मोदयादम्लाभिलापवत् स पुरुषवेदः २। यदुदयात् पुनः स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलापः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलापवत् स नपुंसकवेदः ३। हास्यादिषट्कं हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सारूपम्। तत्र यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यमोहनीयम् १। यदुदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तद् रतिमोहनीयम् २। यदुदयात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेष्वेव वस्तुष्वप्रीतिरुपजायते तद् अरतिमोहनीयम् ३। तथा यदुदय-वशात् प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तत् शोक-मोहनीयम्४। यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो बिभेति तद् भयमोहनीयम्५। यदुदयवशात् पुनर्जन्तोः शुभा-ऽशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६॥

आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः, तद्यथा—नरकायुस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुश्च॥

नाम्नो द्विचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतयः, तद्यथा--गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनु-पूर्वीनाम विहायोगतिनाम त्रसनाम स्थावरनाम बादरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तनाम अपर्याप्त-नाम प्रत्येकनाम साधारणनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम शुभनाम अशुभनाम सुस्वरनाम दुःस्वर-नाम सुभगनाम दुर्भगनाम आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशःकीर्तिनाम अगुरुलघु-नाम उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम निर्माणनाम तीर्थकरनाम चेति।

तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः। सा चतुर्धा, तद्यथा—नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्च। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिश्चतुर्धा।

तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाग् यत् सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः। इदमत्र तात्पर्य—द्रव्य-रूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धम्, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरण-क्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्। यत् पुनरेके-न्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सा[१]मान्यं तदव्यभिचारसाध्यत्वाद् जातिनामसाध्यम्। उक्तं च—

---

१ स० स० १ म० त० ०मान्यं तदनन्यसाध्य०॥

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम । तच्च पञ्चधा, तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

तथा शीर्यत इति शरीरम्, तत् पञ्चधा—औदारिकं वैक्रियम् आहारकं तैजसं कार्मणं च । तत्र उदारं-प्रधानम्, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदारं-सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिकम्, विनयादिपाठादिकण्, तन्निबन्धनं नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १ । एवं शेषशरीरनामस्वपि भावना कार्या । तथा विविधा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्, तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति महच्च भूत्वाऽणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचरम्, तथा अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति दृश्यं भूत्वाऽदृश्यमित्यादि । तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकं उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देव-नारकाणाम् । लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम् । वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम २ । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते—निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, कृत "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात्, कर्मणि वुञ् यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटना[१]त्मकं वस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतम्, तन्निबन्धनं नाम आहारकनाम ३ तथा तेजसा—तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुः यद्वशाच्च विशिष्टतपोमाहात्म्यसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तन्निबन्धनं नाम तैजसनाम ४ । तथा कर्मणो विकारः कार्मणम्, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीर-नीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः कार्मणं शरीरम् । तदुक्तं—

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।

सव्वेसि सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं ॥ (अनुयो० हा० टी० पत्र ८७)

---

१ सं० सं १ त० ०त्मकं तन्नि० ॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ॥

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषाम्—औदारिकादीनां शरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः ।

इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम्, तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहाय उत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्माद् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि—

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

तन्निबन्धनं नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कर्मप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कर्मरूपतया च परिणमय्य जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्ध[1]यति ५ ।

तथा अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि, तदुक्तम्—

[2]सीसमुरोयर पिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा । (बृहत्कर्म० वि० गा० ११)

अङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतानि अङ्गुलिपर्व-रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि । अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि, "स्यादावसङ्ख्येयः" (सिद्धहे० ३-१-११९) इत्येकशेषः, तन्निबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम । तत् त्रिधा तद्यथा--- औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १, एवं वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि २-३ भावनीये । तैजस-कार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् नाङ्गोपाङ्गसम्भव इति न तन्निब[3]न्धनमङ्गोपाङ्गनाम ।

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्, यदुदयाद् औदारिकादिपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः । तत् पञ्चधा, तद्यथा----औदारिकबन्धनं वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनम् । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तद् औदारिकबन्धनम् १ । एवं वैक्रियबन्धनम् २ आहारकबन्धनं ३ च भावनीयम् । यदुदयात् पुनस्तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत् तैजसबन्धनम् ४ । यदुदयात् कर्मपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं सम्बन्धस्तत् कार्मणबन्धनम्

१ स० १ त० म० ०यति तत् कार्मणशरीरनामेत्यर्थ ॥ २ शीर्षमुरः उदरं पृष्ठि द्वौ बाहू ऊरुकौ च अष्ट अङ्गानि ॥ ३ स० छा० मुद्रि० ०न्धनं नाम ॥

५। केचित् पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसङ्ग्रहादिग्रन्थतो वेदितव्याः।

तथा सङ्घात्यन्ते- पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत् सङ्घातम्, तच्च तन्नाम च सङ्घातनाम, तच्च पञ्चधा, तद्यथा---औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र सङ्घातयति, यथा----शिरोयोग्यान् शिरसि, पादयोग्यान पादयोः, शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तद् औदारिकसङ्घातनाम । एवं वैक्रियसङ्घातनामादिष्वपि भावनीयम् ।

तथा संहननं--अस्थिरचनाविशेषः, तच्चौदारिकशरीरे एव नान्येषु शरीरेषु, तेषां अस्थि-रहितत्वात् । तच्च षोढा, तद्यथा---वज्रर्षभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका सेवार्तं च । तत्र वज्रं--कीलिका, ऋषभः- परिवेष्टनपट्टः, नाराचम्- उभयतो मर्कटबन्धः ।

उक्तं च----

[1]रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा ।
उभओ मक्कडबधो, नारायं तं वियाणाहि ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १०९)

ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तद्-स्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं--वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रर्षभनाराचनाम १ । यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम २ । यत्र पुनर्मर्कटबन्ध एव केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३ । यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम अर्धनाराचनाम ४ । यत्र त्वस्थीनि कीलिका-मा[2]त्रविद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम ५ । यत्र तु पर-स्परं पर्यन्तसंस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नि[3]त्यमपेक्षन्ते यत्र तत् सेवार्तम् तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम ६ ।

तथा संस्थानम्--आकारविशेषः, तच्च षोढा, तद्यथा--समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डं चेति । तत्र समाः--यथोक्तप्रमाणाश्चतस्रोऽस्रयः--चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत् समचतुरस्रम्, समासान्तोऽत्प्रत्ययः, समचतुरस्रसंस्थाननिबन्धनं नाम समचतुरस्रनाम १ । तथा न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम्, अधस्तु न तथा तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धनं नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २ । तथा सह आदिना--

१ ऋषभश्च भवति पट्टो वज्रं पुनः कीलिका ज्ञातव्या। उभयतो मर्कटबन्धो नाराचं तद् विजा-नीहि ॥ २ सं० छा० म० ०त्रवद्धा० ॥३ छा० ०त्यमियर्ति येन त० ॥

नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि, सर्वमपि हि शरीरं सादि ततः सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्यः, ततो यत्र नाभेरधो यथोक्तप्रमाणयुक्तमुपरि च हीनं तत् सादिसंस्थानम् , तन्निबन्धनं नाम सादिनाम ३ । तथा यत्र शिरः-ग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणोपपन्नं उरः-उदरादि च मण्डभं तत् कुब्जसंस्थानम् , तन्निबन्धनं नाम कुब्जनाम ४ । यत्र पुनरुरः-उदरादि यथोक्तप्रमाणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तत् संस्थानं वामनम् , तन्निबन्धनं नाम वामननाम ५ । यत्र सर्वेऽप्यवयवा यथोक्तप्रमाणहीनास्तत् संस्थानं हुण्डम् , तन्निबन्धनं नाम हुण्डनाम ।

तथा वर्ण्यते—अलङ्क्रियते शरीरमनेनेति वर्णः, तन्निबन्धनं नाम वर्णनाम, तत् पञ्चधा, तद्यथा----शुक्लनाम कृष्णनाम नीलनाम हारिद्रनाम लोहितनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु शुक्लो वर्णो भवति तत् शुक्लनाम । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

तथा "गन्ध अर्दने" गन्ध्यते—आघ्रायते इति गन्धः, तन्निबन्धनं नाम गन्धनाम, तद् द्विधा——सुरभिगन्धनाम दुरभिगन्धनाम । तत्र यदुदयात् शरीरेषु गन्धः सुरभिरुपजायते तत् सुरभिगन्धनाम, यदुदयात् पुनर्दुरभिगन्धो भवति तद् दुरभिगन्धनाम ।

तथा रस्यते—आस्वाद्यते इति रसः, तन्निबन्धनं नाम रसनाम, तत् पञ्चधा, तद्यथा—— तिक्तनाम कटुनाम कषायनाम अम्लनाम मधुरनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति तत् तिक्तनाम । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

तथा स्पृश्यत इति स्पर्शः, तन्निबन्धनं नाम स्पर्शनाम, तदष्टधा, तद्यथा--मृदुनाम कर्कशनाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु मृदुः स्पर्शो भवति तद् मृदुस्पर्शनाम । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

तथा कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वि-त्रि-चतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणि गमनं आनुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वीनाम, तत् चतुर्विधम् , तद्यथा—नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनाम मनुष्यानुपूर्वीनाम देवानुपूर्वीनाम ।

तथा विहायसा गतिः—गमनं विहायोगतिः । ननु सर्वगतत्वाद् विहायसस्ततोऽन्यत्र गतिरेव न सम्भवतीति किमर्थं विहायसा विशेषणम् ? सत्यमेतत् , किन्तु यदि गतिरित्येवोच्येत तर्हि नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात् ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विहायसा विशेषणम् , विहायसा गतिः न तु नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपा[2] गतिः विहायोगतिः, तन्निबन्धनं

---

१ छा० ०हहं-प्रमाणरहितं तत् सस्थानं कुब्ज० ॥ २ स० १ त० म० ०पा विहायोग० ॥

नाम विहायोगतिनाम, तद् द्विविधम्—प्रशस्तविहायोगतिनाम अप्रशस्तविहायोगतिनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तोः प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा हंसादीनां तत् प्रशस्तविहायोगतिनाम १ । यदुदयात् पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा खरादीनां तद् अप्रशस्तविहायोगतिनाम २ ।

एताश्च गत्यादयो विहायोगतिपर्यन्ताश्चतुर्दश प्रकृतयः शास्त्रान्तरे पिण्डप्रकृतय इति विश्रुताः, अनेकावान्तरभेदपिण्डात्मकाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृतय इति व्युत्पत्तेः ।

तथा त्रसन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः, तत्पर्यायपरिणतिहेतुर्नाम त्रसनाम । तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयाद् उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिवी-अप्-तेजः-वायु-वनस्पतयः स्थावरा जायन्ते ।

तथा बादरनाम, यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति, बादरत्वं च परिणामविशेषः, यद्वशात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूनां समुदाये चक्षुर्ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् न कदाचिदपि जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यता भवति ।

पर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो भवति, पर्याप्तिः—आहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः[1], सा च षोढा, तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः उच्छ्वासपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिश्च । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १ । यया रसीभूतमाहारं रसा-ऽसृग्-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-शुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां संज्ञिवर्जानां द्वीन्द्रियादीनां संज्ञिनां च चतुः-पञ्च-षट्सङ्ख्या भवन्ति । पर्याप्तकनामविपरीतमपर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिसमर्थो न भवति ।

प्रत्येकनाम, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैकमौदारिकं वैक्रियं वा शरीरं भवति । तद्विपरीतं साधारणनाम, यदुदयाद् अनन्तानां जीवानामेकमौदारिकं शरीरं भवति ।

---

१ स० १ त० म० ०षः, स च ॥

तथा यदुदयात् शिरः-अस्थिग्रीवादीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम । यदुदयात्-भ्रू-जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तद् अस्थिरनाम ।

यदुदयवशाद् नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम । यदुदयवशाद् नाभेरधः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तद् अशुभनाम । शिरसा हि स्पृष्टस्तुष्यति, पादेन तु रुष्यति । कामिन्याः पादेनापि स्पृष्टस्तुष्यति ततो व्यभिचार इति चेद्, न, तत्रोपस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते ततोऽदोषः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवस्य स्वरः श्रोत्रप्रीतिहेतुरुपजायते तत् सुस्वरनाम । यदुदयात् स्वरः कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम ।

यदुदयवशाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सुभगनाम । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम, उक्तं च—

[2]अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ ।
उवगारकारगो वि हु, न रुचई दूभगस्सुदए ॥
सुभगुदए वि हु [3]कोई, कंची आसज्ज दुब्भगो जइ वि ।
जायइ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥

यदुदयवशाद् यत् किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति दर्शनसमनन्तरमेव च लोकोऽभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनाम । यदुदयवशाद् उपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ।

यदुदयवशाद् मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद् यशःकीर्तिनाम । यदुदयवशाद् मध्यस्थजनस्यापि अप्रशस्यो भवति तद् अयशःकीर्तिनाम । यशः-कीर्त्योश्चायं विशेषः—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवानां शरीराणि न गुरूणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तद् अगुरुलघुनाम । यदुदयवशात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्द लम्बक-चोरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनाम । यदुदयवशाद् ओजस्वी

१ सं० १ त० ०दयवशात् ॥ २ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदयः । उपकारकारकोऽपि हि न रुच्यते दुर्भगस्योदये ॥ सुभगोदयेऽपि हि कोऽपि कञ्चिद् आसाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषाद् यथाऽभव्यानां तीर्थंकरः ॥ ३ सं० १ त० म० जीवो, कं० ॥

दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत् पराघातनाम । यदुदयवशाद् उच्छ्वास-निःश्वासलब्धिरुपजायते तद् उच्छ्वासनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणाऽनुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनाम । आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति, सूत्रे प्रतिषेधात्; तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति।

तथा यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति यथा यति देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारा-रत्न-औषधयः तद् उद्योतनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीरेष्वङ्ग प्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तद् निर्माणनाम । यदुदयवशाद् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत् तीर्थकरनाम । इह पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदगणने पञ्चषष्टिर्भवति, शेषाश्च प्रकृतयोऽष्टाविंशतिः, ततः सर्वसङ्ख्यया नाम उत्तरभेदास्त्रिनवतिः ॥

गोत्रस्योत्तरप्रकृती द्वे, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं च नीचैर्गोत्रं च । तत्र यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिः सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजा[1]लाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् ॥

अन्तरायस्योत्तरप्रकृतयः पञ्च, तद्यथा—दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं च । तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे 'दत्तमस्मै बहुफलम्' इति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयवशात् पुनः प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलो गुणवानपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात्तु सत्यपि विशिष्टाहारादौ असति च प्रत्याख्यानपरिणामे केवलकार्पण्याशक्त्यादिकारणवशाद् नोत्सहते विशिष्टाहारादि भोक्तुं तद् भोगान्तरायम् ३ एवमेवोपभोगान्तरायमपि । नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः—सकृद् भुज्यत इति भोगः, पुनः पुनर्भुज्यत इत्युपभोगः ४ । उक्तं च—

[2]सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १६५)

तथा यदुदयवशात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽप्यल्पप्राणता भवति तद् वीर्यान्तरायम् ५ ॥

इह बन्धे उदये च बन्धनानि सङ्घातनामानि च स्वशरीरनामग्रहणेनैव गृहीतानि विवक्ष्यन्ते, तद्यथा—औदारिकशरीरनामग्रहणेन औदारिकबन्धन-सङ्घातनाम्नी, वैक्रियशरीरनामग्रहणेन वैक्रियबन्धन-सङ्घातनाम्नी इत्यादि । वर्णादीनां चावान्तरभेदा न विवक्ष्यन्ते । तथा बन्धे

---

१ सं० १ त० म० ०लाभादिस० ॥ २ सकृद् भुज्यत इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिक. । उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥

सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे न भवतः, यतो मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते; तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च--

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वत् शकृत्प्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥

उदये पुनः सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे अपि भवतः । ततो बन्धे उत्तरप्रकृतीनां विंशं शतम्, उदये च द्वाविंशं शतम्, सत्तायां च बन्धनानि सङ्घातनामानि च पृथग् विवक्ष्यन्ते, वर्णादीनां चावान्तरभेदाः पृथग् गण्यन्ते, ततः सर्वसङ्ख्यया सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतमुत्तरप्रकृती[1]नामिति ॥

तदेवं कृता उत्तरप्रकृतीनां प्ररूपणा । सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह--

बंधोदयसंतंसा, नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा, उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्तारूपा अंशाः 'पञ्च' पञ्चप्रकृत्यात्मकाः । इदमुक्तं भवति--ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्च प्रकृतयो मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यवज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय वीर्यान्तरायरूपाः पञ्च प्रकृतयः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वादेव । तथा च सति ज्ञानावरणेऽन्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति ।

सम्प्रति संवेध उच्यते--ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, एवमन्तरायस्यापि । एष च विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवगन्तव्यः । बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । तथा चाह--"बंधोवरमे वि" इत्यादि । 'बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोः 'तथा'

---

१ स० ०नामवसेयम् ।

इति समुच्चये उदय-सत्ते भवतः (ग्रन्थाग्रम्-५००) 'पञ्चैव' पञ्चप्रकृत्यात्मके एव, न त्वेकद्वित्र्यादिके, ध्रुवोदय-सत्ताकत्वात् । एष च विकल्पो द्वयोरप्युपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥६॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं ।
उदयट्ठाणाइं दुवे, चउ पणगं दसणावरणे ॥ ७ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीये कर्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं 'तुल्यानि' तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—नव षट् चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट्, एताश्च षड् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्रः । तत्र नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा । तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानम्, कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्; भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानम्, कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानम्; तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, उत्कर्षतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तम् । षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्याऽपूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत् । तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम्, उत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्, सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात्; तत ऊर्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्धः । चतुष्प्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् । तच्च जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तम् । एकं समयं यावत् कथं प्राप्यते ? इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्धमारभ्याऽनन्तरसमये कश्चित् कालं करोति, कालं च कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामयिकी चतुर्विधबन्धस्थानस्य स्थितिः ।

तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा—अनाद्यपर्यवसितं अनादिसपर्यवसित च । तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानाम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । अनादिसपर्यवसानं भव्यानाम्, कालान्तरे व्यवच्छेदात् । सादिसपर्यवसानं तु न भवति, नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति, न च क्षपकश्रेणीतः प्रतिपातो भव[१]तीति कृत्वा । एतच्च सत्तास्थानम् उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते, क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमभागम् । तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, तच्चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागा-

---

१ सं० सं० १ त० छा० ०तीति । एत० ॥

दारभ्य क्षीणमोहगुणस्था[1]नकद्विचरमसमयं यावदवसेयम् । चतुष्प्रकृत्यात्मकं त्वेकसामयिकम्, क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति ।

उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः, तद्यथा—चतस्रः पञ्च च । तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरणरूपाः[2] । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय[3]इति एकं प्रकृतिस्थानम् एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्याद् अन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च । न हि निद्रादयो द्वित्रा[4]दिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवान्यतमा काचित् । निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति, कालादिसापेक्षत्वात् । अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिद् लभ्यते ॥ ७ ॥

तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानानि । सम्प्रति संवेधमभिधित्सुराह——

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता ।
छच्चउबंधे चेवं, चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण, नवंस चउरुदय छच्च चउसंता ।

द्वितीयावरणं—दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे 'नवबन्धकेषु' सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टि-सासादनेषु "चउ पंच उदय" त्ति उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा । तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपः । स एव निद्रापञ्चकसत्कान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात् पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य पुनः प्रकृतिस्थानं 'नव' नवप्रकृत्यात्मकम् । तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्पो निद्रोदयाभावे; निद्रोदये तु नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । "छच्चउबंधे चेवं" ति षड्बन्धे चतुर्बन्धे च 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण उदय-सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । इदमुक्तं भवति-ये षड्विधबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ताः कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता । एतेन च द्वौ विक[5]ल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः नवविधा सत्ता, अथवा षड्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपकं मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते । क्ष[6]पके त्वेक एव विकल्पः, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता । क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्रा-प्रचलयोर्नोदयः सम्भवति । तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे

१ सं० १ त० ०नके द्विच० ॥ २ स ० त० ०पाः । तासां च ॥ ३ मं० मुद्रि० इति कृत्वा एकं प्रकृ० ॥ ४ सं० २ त० म० छा० ०त्र्यादिका ॥ ५ सं १ त० ०कल्पौ दर्शयति, त० ॥ ६ सं० १ त० ०पकत्वे त्वे० ॥

निद्दा[1]दुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज ॥

तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता । क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव, कारणमत्र प्रागेवोक्तम् । केचित् पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदयमिच्छन्ति, तत् सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते । यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत् सत्ता नवविधैव, स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथा चाह—"चउबंधुदए छलंसा य" त्ति इह अंश इति सत्कर्माभिधीयते । यदाह चूर्णिकृत्—

[2]अंस इति संतकम्मं भन्नई ।

चतुर्विध बन्धे चतुर्विध उदये अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धायाः सङ्ख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता । एष च विकल्पस्तावत् प्राप्यते यावत् सूक्ष्मसम्प[3]रायाद्धायाश्चरमसमयः, परतस्तु न प्राप्यते, बन्धाभावात् । तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पाः, तद्यथा—चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्प उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते । चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एष उपशमश्रेण्याम्, क्षपकश्रेण्यां पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष च विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेयः ॥८॥

"उवरयबंधे" इत्यादि । 'उपरते' व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते । उपशमश्रेण्यां हि निद्रा-प्रचलयोरुदयः सम्भवति, स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा च सत्ता प्राप्यते । तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये, निद्रा-प्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात् । तदेवं दर्शनावरणे सर्वसङ्ख्यया एकादश विकल्पाः । यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता, बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पावधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः ॥

सम्प्रति वेदनीया-ऽऽयुः-गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह—

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

---

१ निद्राद्विकस्य उदयः क्षीणकक्षपकौ परित्यज्य ॥ २ अंश इति सत्कर्म भण्यते० ॥ ३ मुद्रि० रायगुणस्थानकाद्धा० ॥

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागमं बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य 'विभजेत्' विकल्पयेत्। तत्र वेदनीयस्य सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमपि एकम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोर्युगपदुदयाभावात् परस्परविरुद्धत्वात्। सत्तास्थाने द्वे, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र यावदेकमन्यतरद् न क्षीयते तावद् द्वे अपि सती, अन्यतरस्मिंश्च क्षीणे एकमिति।

सम्प्रति संवेध उच्यते— असातस्य बन्धः असातस्य उदयः साता-ऽसाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्य उदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धाभावात्। तथा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सात-ऽसाते सती, अथवा सातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् सम्भवतः। ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः साता-ऽसाते सती, अथवा सातस्योदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते। चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं [1]क्षीणम्, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः—सातस्योदयः सातस्य सत्ता; एतौ च द्वौ विकल्पावेकसामयिकौ। सर्वसङ्ख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः॥

तथा आयुषि सामान्येनैकं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतमत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वित्र्यायुषां बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि चतुर्णामन्यतमत् युगपद् द्वित्र्यायुषां उदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यत् परभवायुर्न बध्यते, परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवे नोत्पद्यते तावद् द्वे सती।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थाः, तद्यथा—परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च। तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं नारकायुष उदयः नारकायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसम्भवात्; परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदयः नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसम्भवात्; अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नारकायुष उदयः मनुष्य-नारकायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा। बन्धोत्तर[2]कालं नारकायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु, तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं

१ त० छ० क्षीणं तस्यैवायं विकल्प च० ॥ २ मुद्रि० ०कालं ना० ॥

कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात्, अथवा नारकायुष उदयो मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायुः नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्।

तदुक्तम्—

[1]देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति। इति।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुः-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति।

एवं देवानामपि [2]पञ्च विकल्पा भावनीयाः। नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। बन्धकाले तु नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्; अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः,[3] तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा; अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, तिरश्चोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्; अथवा देवायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात्। एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले। बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु। सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात्।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत्। तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो नारक मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्या[4]दृष्टेः। तथा तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। मनु-

---

१ देवा नारका वा देवेषु नारकेष्वपि नोपपद्यन्ते ॥ २ सं० १ त० म० पञ्चैव वि० ॥ ३ सं० त० ०य', तिर्यगा० ॥ ४ सं० त० म० ०वत्। बन्धकाले तु नार०। सं० ०वन्। नार० ॥ ५ सं० १ सं० त० म० ०दृष्टेः। तिर्यगा० ॥

ष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष [1]विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्। एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले। बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात्। मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ् मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत। मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, [2]एषोऽपि विकल्पः प्राग्वत्। मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, [3]एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात्। सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः। तदेवमायुषि सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिर्भङ्गाः॥

तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थायां उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते [4]एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते। तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चाशेषजीवेष्वेक-द्वि-त्रि-चतुः-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् न परतः, परतो बन्धाभावात्। बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेयः। उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये। तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसङ्ख्यया सप्त भङ्गाः॥

---

१ सं० १ त० म० ०कल्पो मिश्रवर्जमप्र०॥ २ मुद्रि० अयमप्यप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्॥ ३ मुद्रि० अयमुपशा०॥ ४ मुद्रि० एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथ०॥

मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अतः परं मोहं वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह—

[1]बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं, बंधट्ठा[2]णाणि मोहस्स ॥ १० ॥

'मोहस्य' मोहनीयस्य बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम्, ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः, सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् एकविंशतिः, यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति, तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव[3] बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात्-त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता ऽपूर्वकरणेषु प्रत्याख्याना[4]वरणानां बन्धाभावाद् नव, यद्यपि अरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं, तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्ते इति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः[5] । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां[6] बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् [6]द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः ॥१०॥

तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह—

[7]एक्कं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे, [8]उदयट्ठाणा नव हवंति ॥ ११ ॥

---

१ गाथेय सप्ततिकाभाष्ये एकोनविंशतितमी ॥ २ भाष्ये तु-०णाणि दस मोहे ॥ ३ स० १ त० ०बन्धः । ततो ॥ ४ स० १ त० ०वरणबन्धा० ॥ ५ मुद्रि० विना-०णाम्, चतु० ॥ ६ मुद्रि० विना-०योः, पञ्च० ॥ ७ गाथेय सप्ततिकाभाष्ये पञ्चविंशतितमी ॥ ८ म० उदये ठाणाणि नव हु ति । स० १ त० ०यट्ठाणाणि नव हुति ॥

'ओघेन' सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति, तद्यथा—एकं द्वे चत्वारि 'अतः' चतुष्कादूर्ध्वं त्वेकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो 'दश' दशकमुदयस्थानं भवतीत्यर्थः १-२-४-५-६-७-८-९-१०। एतानि चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किञ्चिद् भाव्यन्ते—तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानम्, तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकम्, तत्रापि हास्य-रतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कम्, तत्रैव भयप्रक्षेपात् पञ्चकम्, जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्कम्, तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकम्, तत्रैव चाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपेऽष्टकम्, तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकम्, तत्रैव मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम्। एतच्च सामान्येनोक्तम् विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते ॥११॥

तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

[3]अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा।
तेरस बारिक्कारस, इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥ १२ ॥
संतस्स पगइठाणाइँ ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस।
बंधोदयसंते पुण, भगविगप्पा[4] बहू जाण ॥ १३ ॥

विंशतिः अष्टक-सप्तक षट्क-चतुः—त्रि-द्वि-एकाधिका, तथा त्रयोदश द्वादश एकादश, 'अतः' एकादशकात् सत्तास्थानाद् 'एकोनानि' एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि, तानि च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदश भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यम्—मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। [5]ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः। ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः। ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश। ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततोऽपि संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः। ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे। ततोऽपि संज्वलन-

---

१ सं० १ त० ०हनीयस्य ॥ २ स० १ सं० त० म० ०ख्यानकषा० ॥ ३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकचत्वारिंशत्तमी ॥ ४ स० १ सं० त० ०गप्पे ॥ ५ सं० म० छा० तत्र सं० ॥

मायायां क्षपितायामेका प्रकृतिः [1]सतीति। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि एतेषु पुनर्बन्ध उदय-सत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति, [2]तांश्च भङ्गान् यथावत् प्रतिपाद्यमानान् सम्यग् जानीहि ॥१२॥ १३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह—

छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नवबंधगे वि दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१४॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे षड् विकल्पा भवन्ति । तत्र द्वाविंशतिरियम्–मिथ्यात्वं, षोडश कषायाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रतियुगलाऽ-रति-शोकयुगलयोन्यतरद् युगलं, भयं जुगुप्सा च । अत्र भङ्गाः षट् तथाहि- हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ, तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् । सैव द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिः, नवरमत्र द्वयोर्वेदयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम्, यत एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः, ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदम्, नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्, स सादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात् । अत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तथा चाह -"चउ एगवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः । तत्र हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः । सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश, नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यः, न स्त्रीवेदोऽपि, यतः सप्तदशबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा, न चैते स्त्रीवेदं बध्नन्ति, तद्बन्धस्यानन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात्, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अत्र च हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ । ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तथा चाह—"सत्तरस तेरसे दो दो" सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ । ता एव त्रयोदश प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरहिता नव, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, यत आह–"नवबंधगे वि दोन्नि उ" नवबन्धके द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गः, तत्रारति-शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात् । तथा ता एव नव हास्य-रतियुगल-भय-जुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च, अत्रैको भङ्गः । एवं चतुः-त्रि-द्वि एकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एव भङ्गो वाच्यः, तथा चाह–"एक्केक्कमओ परं भंगा" 'अतः' नवकबन्धात् परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकम् 'एकैकः' एकैकसङ्ख्या[3] वेदितव्याः । मकारस्त्वलाक्षणिकः ।

---

1 स० त० सती । त० ॥ २ स० १ त० ततश्च भङ्गान् प्रति० ॥ ३ मुद्रि० एकैव सख्या ॥

अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदम्--द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तमुहूर्तप्रमाणः, उत्कर्षतो देशोनोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः। एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्रः, उत्कर्षतः षडावलिकाः। सप्तदशबन्धस्य कालो जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्कर्षतः किञ्चित् समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि- त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते, अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते तावत् सप्तदशबन्ध एवेति किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। त्रयोदशबन्धस्य नवबन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्कर्षतस्तु देशोना[1] पूर्वकोटी, यतस्त्रयोदशबन्धो देशविरतौ, नवकबन्धस्तु सर्वविरतौ, देशविरतिः सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा। पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षेण चान्तुमुहूर्तम्, एकसमयता कथम्? इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कश्चित् कालं कृत्वा देवलोकं याति, देवलोके च गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च सप्तदशबन्ध इत्येकसमयता। एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम्॥ १४॥

तदेवं कृता कालनिरूपणा सम्प्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्ति? इत्येतद् निरूप्यते----

दश बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं।
छाई नव सत्तरसे, तेरे पंचाइ अट्ठेव॥ १५॥
च[2]त्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा।
पंचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो॥ १६॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भ[3]वन्ति। तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः, यत एकस्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा वेद्यन्ते, समानजातीयत्वात्। एवं मान-माया-लोभा अपि द्रष्टव्याः। न च युगपत् क्रोध मान-माया-लोभानामुदयः, परस्परविरोधाद् इत्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते। तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलम्, एतासां सप्तप्रकृतीनां द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यादृष्टावुदयो ध्रुवः। अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः, तद्यथा—हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यत इति द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ

१ सं० १ त० °नपूर्व° ॥ २ स० १ म० छा० °त्तारिआइ ॥ ३ सं० १ °वन्तीत्यर्थः।

जाताः षट्, ते च प्रत्येकं क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशतिः। तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः। अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्येते इति तिस्रः चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः ।

ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः सम्भवति तत् कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः ? उच्यते—इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः, एतावतैव च स विश्रान्तो, न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान तथाविधसामग्र्यभावात्, ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, ततो बन्धा[1]वलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयो न भवति, बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति।

ननु कथं बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः सम्भवति ? यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः, अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति, नैष दोषः, यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत् सत्ता भवति, सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्तमाने पतद्ग्रहता, पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकसङ्क्रान्तिः, सङ्क्रमाच्च दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिण[2]मते, ततः सङ्क्रमावलिकायामतीतायामुदयः, ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते ।

तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोः अथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः । अत्रैकैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः[3] ।

' "नव एक्कवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे सप्तादीनि नवपर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सप्त अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्, एतासां सप्तप्रकृतीनामुदयः एकविंशतिबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा क्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्र

१ सं० म० मुद्रि० °वलिका या° ॥ २ स० १ त० म० ०मति ॥ ३ स० १ स० त० म० ०यः । नव एकविंशति· 'एक० ॥

चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः । अयं चैकविंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते । सासादनश्च द्विधा, श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च । तत्राश्रेणिगतं सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यत्रगन्तव्यानि ।

यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयम्—केचिदाहुः—अनन्तानुबन्धिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमना भवति । एतच्च सूत्रेऽपि संवादि, तदुक्तं सूत्रे-

अणदंसणपुंसित्थी, (आव० नि० गा० ११६) इत्यादि ।

श्रेणितश्च प्रतिपतन् कश्चित् सासादनभावमप्युपगच्छति, सास्वादनभावं चोपगते यथोक्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति ।

अपरे पुनराहुः—अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्सत्कर्मा, तेषां मतेन श्रेणितः प्रतिपतन् सासादनो न भवति, तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासम्भवात्, अनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते, "अणंताणुबंधुदयरहियस्य सासणभावो न संभवइ" इति वचनात् ।

अथोच्यते—यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मतेन भविष्यतीति किमत्रायुक्तम्? तदयुक्तम्, एवं सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वायुदयस्थानानि भवेयुः, न च भवन्ति, सूत्रे प्रतिषेधात्, तैरप्यनभ्युपगमाच्च, तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम् ।

"छाई नव सत्तरसे" सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वायुदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । सप्तदशबन्धका हि द्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि उदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जाः त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्, सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रचतुर्विंशतयः । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तदशबन्धकानां चत्वायुदयस्थानानि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनां अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णामुदयो ध्रुवः । अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्य-

क्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः । अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः । तत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु च युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ । सर्वसङ्ख्यया सप्तदशबन्धे द्वादश चतुर्विंशतयः ।

"तेरे पंचाइ अट्ठ व" त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वायुदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदयः त्रयोदशबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः । अत्र भयादिभिस्त्रयो विकल्पाः, एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः ॥१५॥

"चत्तारि" इत्यादि । नवबन्धकेषु प्रमत्तादिषु चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि "उदयम" त्ति उदयरूपविभागस्थानानि, उदयस्थानानीत्यर्थः । तद्यथा---चतस्रः पञ्च षट् सप्त । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिकः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुवः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया नवबन्धके अष्टौ चतुर्विंशतयः । "पंचविह" इत्यादि । पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदयो द्वयोः प्रकृत्योर्ज्ञातव्यः, प्रकृतिद्वयात्मकमेकमुदयस्थानमिति भावः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः ॥ १६ ॥

---

१ सं० १ त० °पु युग° ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७ ॥

'इतः' पञ्चकबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एकैकोदयाः' एकैकप्रकृत्युदयाः 'भवन्ति' ज्ञातव्याः, तथाहि—च[1]तुर्विधबन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः । अत्र चत्वारो भङ्गाः, यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि संज्वलनमानेन, कोऽपि संज्वलनमायया, कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः । इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्र[2]मकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते । तदुक्तं **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि । (पत्र २१६) इति ।

तथा च सति तेषां मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्धः, तत्राप्येक[3]विध एवोदयः । अत्र त्रयो भङ्गाः, नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे[4] वेयइ[5] ते बंधइ" इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तः । ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे[6] बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति व[7]क्तव्यम् । संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्धः, तत्राप्येकविध एवोदयः, केवलं स माया-लोभयोरन्यतर इति वक्तव्यः, युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ । संज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धः तस्यैव चोदयः, अत्रैको भङ्गः । इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेषः, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गाः पृथगग्रे गणयिष्यन्ते । तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च संज्वलनलोभस्यावसेयः, तद्गतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात् । ततः परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति ॥ १७ ॥

---

१ सं० छा० °तुर्विधो व° ॥ २ सं० छा० °मणका° ॥ ३ स० त० ०क एकोद० । ४ यो वेदयति स बन्धयति ॥ ५ सं० स० १ त० छा० ०इ से ब० ॥ ६ सं० ०धबन्धे ॥ ७ सं० ०क्तव्यः ॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गाः सम्भवन्ति तावतो निर्दिदिक्षुराह—

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यं सङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या, सा चैवम्-दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट्, तद्यथा--द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्राऽविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका। अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका। तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, नवकबन्धे त्वेका। तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः। तथा पञ्चकोदये चतस्रः—तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्रः। चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः। "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः। एताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत्। तथा 'चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः। "इक्कमिक्कार" त्ति एकोदये एकादश भङ्गाः। ते चैवम्-चतुर्विधबन्धे चत्वारः, त्रिविधबन्धे त्रयः, द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एकः, बन्धाभावे चैक इति॥ १८॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः, तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च सत्यां जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४। ततः तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति। एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता[2] विज्ञेयाः॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ १९ ॥

१ स० भङ्गका०॥ २ सं १त० ०ता वेदितव्या.॥

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दानां—दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः, तेषां शतैरेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यैः ६९७१ मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः, एतावत्सङ्ख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिताः संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः ।

[1]अथ कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यानि पदानां शतानि भवन्ति ? उच्यते—इह दशोदये दशपदानि, दशप्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः, एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाश्च षड् नवभिः, अष्टोदयाश्च एकादश अष्टभिः, सप्तोदया दश सप्तभिः, षडुदयाः सप्त षड्भिः, पञ्चकोदयाश्चत्वारः पञ्चभिः, चतुरुदय एकश्चतुर्भिः, द्विकोदय एको द्वाभ्याम् , गुणयित्वा चैते सर्वेऽपि एकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके २९० । एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां प्राप्यत इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदानां शतानि भवन्ति । इयं चोदयस्थानसङ्ख्या पदसङ्ख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्याः ॥ १९ ॥

यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसङ्ख्या—

नवनेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिसीयाला, पयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ २० ॥

उदयविकल्पैस्त्र्यशीत्यधिकनवशतसङ्ख्यैः ९८३ तथा दशोदयादिरूपवृन्दान्तर्गतानां पदानां शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यैः ६९४७ यथायोगं सर्वेऽपि संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता विज्ञेयाः । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसङ्ख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ताश्चतुर्विधबन्ध[2]स्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते, ततो नव शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९८३ उदयविकल्पानां भवन्ति । पदेषु च परिसङ्ख्यायमानेषु मता[4]न्तरेणोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदानि अपनीयन्ते, ततो यथोक्तपदानां सङ्ख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः, तथाहि—चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्यमन्यतमो वेदोऽन्यतरद् युगलं विद्यते, वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्यं मुहूर्तादारतः परावर्तते, तदुक्तं पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

---

१ सं० त० छा० अत्र ॥ २ सं० १ त० °यश्च ए° ॥ ३ सं० त० °स्थानेषु द्वि° ॥ ४ सं० छा० °न्तरोक्ताद्वा० ।

वेदेन युगलेन वा अवश्यं मुहूर्तादारतः परावर्तितव्यम् (पत्र २१७) इति ।

तत उत्कर्षतः चतुष्कोदयादयः सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिकाः । द्विकोदयैककोदयाश्च आन्तर्मौहूर्तिकाः सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एकं समयं वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तरं [1]गच्छति तदा अवश्यं बन्धस्थानभेदाद् गुणस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तरं वा भङ्गान्तरं वा [2]यातीति सर्वेप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिकाः ॥ २० ॥

तदेवं बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः । सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥
पंचविहचउ[3]विहेसुं, छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेश्चत्वायुदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः, ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः, स चाष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानम् । अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि । दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि ।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं

१ सं छा० गच्छन्ति ॥ २ सं० १ म० यान्तीति ॥ ३ छा० मुद्रि० ०उव्विहेसुः ॥

च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, उपशमश्रेणिप्रतिपाते तु[1] उपशान्तानन्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिः, उद्वलितानन्तानुबन्धिनां तु चतुर्विंशतिः । क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति । सर्वसङ्ख्यया षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्चेति । सप्तोदये मिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः । येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्यग्मिथ्यात्वं च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशेन मिथ्यात्वाद् विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः । यः पुनः पूर्वं सम्यग्दृष्टिः सन् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशतिः, सा च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति । तदुक्तं कर्मप्रकृत्याम्—

[2]चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
करणेहिं तीहि सहिया, णंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४३)

अत्र "तिन्नि वि" त्ति अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति ।

अनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं च केचित् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते, ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशतिः सम्भवति । अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । चतुर्विंशतिरप्युभयेषाम्, नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं सा अवगन्तव्या । त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च

१ सं० १ ल० ०मश्रेण्यां तूप० ॥ २ चतुर्गतिकाः पर्याप्ताः त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति । करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणं उपशमो वा ॥

वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव । तथाहि—कश्चिद् मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षपणा[1]याम्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशतिः, तस्यैव च सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमानः कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । तदुक्तम्—

[2]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ।

ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव, यतः सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, सप्तके च क्षीणे सत्तायामेकविंशतिरिति । एवमष्टोदयेऽपि मिश्रदृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां चोक्तरूपाण्यन्यू[3]नानतिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि । एवं नवोदयेऽपि, नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव सम्भवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिश्च । एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि ।

"तेरनवबंधगेसु पंचेव [4]ठाणाइं" त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरताः, ते च द्विधा—तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, तथाहि—तदानीमन्तरकरणाद्धायां वर्तमान औपशमिकसम्यग्दृष्टिः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते, कश्चिद् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि । तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—

[5]उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहइ । इति ।

वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता । चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न सम्भ[6]वन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति, किन्तु मनुष्या एव ।

---

१ स० त० ०यामभ्यु० ॥ २ प्रस्थापकस्तुमनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ३ सं० छा० म० ०नातिरि० ॥ ४ स० १ त० म० छा० ०णाणि" ॥ ५ उपशमसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि देशविरतिं कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि गच्छति, सासादनः पुनर्न किमपि लभते ॥ ६ स० १ त० म० छा० ०वन्तीति ॥

अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति तद् अयुक्तम् , यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोदशबन्धकत्वम् । [1]अत्र त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते तत एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते । तदुक्तं चूर्णौ—

[2]एगवीसा तिरिक्खेसु संजयाऽसंजएसु न संभवइ । कहं ? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि । इति ।

ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि । तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि । अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि । तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि । एवं नवबन्धकानामपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि ॥२१॥

"पंचविहचउविहेसुं छ छक्क" त्ति पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् षट् सत्तास्थानानि । तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च । तत्राष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् । एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः । क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः । अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश । पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत् षट् नोकषायाः सन्त एवेति । चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशति एकविंशतिः एकादश पञ्च चतस्रः । तत्राष्टाविंशति-चतुर्विंशति-एकविंशतय उपशमश्रेण्याम् । एकादश पुनरेवं प्राप्यन्ते—इह कश्चिद् नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः, स च स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत्

---

१ सं० मुद्रि० अथ च ॥ २ एकविंशतिः तिर्यक्षु संयतासंयतेषु न सम्भवति, कथम् ? भण्यते—सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न उपपद्यते, असंख्येयवर्षायुष्केषु उपपद्येत, तस्य देशविरतिर्नास्ति ॥

क्षपयति, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति; यदि पुनः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततः प्रथमतो नपुंसकवेदं क्षपयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तेन स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः, ततस्तदनन्तरं पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्य एकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते। पुरुषवेद-हास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सत्यः। एवं च स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते। यस्तु पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षण्नोकषायक्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते, किन्तु पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, ताश्च पञ्च समयद्वयोनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः। ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यः[1] प्रतिपत्तव्याः।

"सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं" शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र त्रिविधबन्धे अमूनि—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चतस्रः तिस्रः। तत्रादिमानि त्रीणि उपशमश्रेणिमधिकृत्य वेदितव्यानि। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमायान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः, संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति, यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयः त्रिविधबन्धे सत्यः, क्षीणे तु तस्मिंस्तिस्रः, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावदवगन्तव्याः। द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः तिस्रः द्वे च। तत्राद्यानि त्रीणि [2]प्रागिव। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ आवलिकामात्रशेषायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तासु च व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति, संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलि[3]कं सत्, अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यते, यावच्च [4]नापद्यते तावत् तिस्रः सत्यः, क्षीणे तु

१ स० छा० "०त्योऽवगन्तव्याः। "से०। सं० १ त० त्यः। "से०॥

२ छा० म० प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। शे०॥ ३ सं० १ त० म० ०कं मुक्त्वा अ०॥ ४ छा० नाद्यापि क्षीयते ता०॥

तस्मिन् द्वे, ते अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यौ । एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम् । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्–संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्ध एकविधो भवति, संज्वलनमायाश्च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति, अन्यत् समस्तं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति, यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे [1]सती, क्षीणे तु तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा, सती ।

"चत्तारि य बंधवोच्छेए" बन्धव्यवच्छेदे' इति बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम् । एका तु संज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् ॥ २२ ॥

तदेवं कृता संवेधचिन्ता । सम्प्रत्युपसंहारमाह—

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं ।
भणियाइं मोहणिज्जे, इत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २३ ॥

बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानि यथासङ्ख्यं दश-नव-पञ्चदश-सङ्ख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण[2] च मोहनीयकर्मणि भणितानि । 'इतः परं' अत ऊर्ध्वं 'नाम वक्ष्ये' नाम्नो बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये ॥ २३ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थाननिरूपणार्थमाह—

[3]तेवीस पण्णवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस[4] गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ २४ ॥

नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । अमूनि च तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते । तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत-स्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः । तत्र त्रयोविंशतिरियम्-तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्ण-रस-गन्ध-

१ सं० त० म० सत्यौ, ॥ २ ० म० ०ण मोहनीयकर्मणि सर्वसंख्यया म०॥ ३ गाथेयं सप्तति-भाष्यस्य अष्टपञ्चाशत्तमी ॥ ४ सं० १ छा० ०स उगुती० ॥

स्पर्शा अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्म-बादरयोरेकतरम् अपर्याप्तकनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरम् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम। एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एतच्चापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र भङ्गाश्चत्वारः, तथाहि–बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते, द्वितीया साधारणनाम्ना, एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशति, सर्वसङ्ख्यया चतस्रः। एषैव त्रयोविंशतिः पराघात-उच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः। नवरमेवमभिलपनीया–तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेक[1]तरं दुर्भगम् अनादेयं निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गा विंशतिः–तत्र बादर-पर्याप्त-प्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः, तथाहि–बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः, द्वितीयोऽयशःकीर्त्या, एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ, एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वारः, एते चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः, एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ। एवं पर्याप्त-बादर-साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, यतः साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति "[2]नो सुहुमतिगेण जसं" इति वचनात्, ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सूक्ष्म-पर्याप्तनाम्नोर्बध्यमानयोः प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-शुभा-ऽयशःकीर्तिपदैरष्टौ, सूक्ष्मेणापि सह यशःकीर्त्तेर्बन्धाभावादत्रापि तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। तदेवं सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः। एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिः, नवरमेवमभिलपनीया–तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम स्थावरनाम आतप-उद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासां च षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यमातप-उद्यो[3]तान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गाः षोडश, ते

---

१ केषुचिदादर्शेषु ०कतरा केषुचिद् ०कतर एवमग्रेऽपि॥ २ नो सूक्ष्मत्रिकेण यशः॥
३ सं० १ त० ०ताभ्यां स०॥

चातप-उद्योत-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः, आतप-उद्योताभ्यां च सह सूक्ष्म-साधारणबन्धो न भवति, ततस्तदाश्रिता विकल्पा अत्र न प्राप्यन्ते। एकेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्या भङ्गाश्चत्वारिंशत्, तदुक्तम्—

[1]चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला।

द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन च सह परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमाया[2]न्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्गः। एषैव पञ्चविंशतिः पराघात-उच्छ्वासा-ऽप्रशस्तविहायोगति-पर्याप्तक-दुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद् भवति, नवरमेवमेषा वक्तव्या—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम्। अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः। सैव एकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश। एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यं चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि, नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिः, भङ्गाश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, सर्वसङ्ख्यया एकपञ्चाशत्। उक्तं च—

[3]एगऽट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्हं पि।

तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि। तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिः द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत[4] इव वेदितव्या, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या, तत्र चैको भङ्गः। एकोनत्रिंशत् पुनरियम्—तिर्यग्गति-तिर्यगानु-

---

१ चत्वारि विंशतिः षोडश भङ्गा एकेन्द्रियाणां चत्वारिंशत्॥

२ सं सं० १ त० ०न्तीति, अत्रै० ॥ ३ एकोऽष्टौ अष्टौ विकलेन्द्रियाणा एकपञ्चाशत् त्रयाणामपि ॥ ४ मुद्रि० ०त एव वे० ॥

पूर्व्यो पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहनननानामेकतमत् संहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वास-नाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरं सुस्वर दुःस्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टेः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्यम्। यदि पुनः सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य प[1]ञ्चानामाद्यानां संस्थानानामन्यतमत् संस्थानं प[2]ञ्चानां संहनननानामन्यतमत् संहननमिति वक्त[3]व्यम्, "[4]हुंडं असंपत्तं व सासणो न बंधइ" इति वचनात्। अस्यां चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्यां आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या वेदितव्याः ४६०८। एवमेवैकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशद् भवति, अत्रापि मिथ्यादृष्टि-सासादनानधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्यः, सामान्येन च भङ्गा अष्टाधिकषट्-चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याः ४६०८। उक्तं च—

[5]गुणतीसे तीसे वि य, भंगा अट्ठाहिया छयालसया।
पंचिंदियतिरिजोगे, पणवीसे बंधि भंगिक्को॥

सर्वसङ्ख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि ९२१७। सर्वस्यां तिर्यग्गतौ सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः त्रिनवतिशतान्यष्टाधिकानि ९३०८।

तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्राग् अपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या। नवरमत्र मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरिति वक्तव्यम्। एकोनत्रिंशत् त्रिधा—एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या, द्वितीया सासादनान्, तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन वा। तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये। तृतीया पुनरियम्—मनुष्यगतिः मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्त-

१ सं० म० ०ञ्चानां सस्था०॥ २ स० १ त० ०ञ्चानामाद्याना संहनना०॥ ३ स० छा० ०व्यम्। अस्यां॥ ४ हुण्डं असम्प्राप्तं वा सासादनो न बध्नाति॥ ५ एकोनत्रिंशत् त्रिंशदपि च भङ्गा अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योग्ये पञ्चविंशतौ बन्धे भङ्ग एक.॥

विहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । अस्यां चैकोनत्रिंशति त्रिप्रकारायामपि सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिराऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्यां आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याः ४६०८ भङ्गा वेदितव्याः । यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत् । अत्र च स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि ४६१७ । उक्तं च—

पणुवीसयम्मि एक्को, छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे, छायालमया उ सत्तरसा ॥

तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिराऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादन-मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविर[2]त-सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । नवरमेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति। त्रिंशत् पुनरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम शुभनाम स्थिरनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम निर्माणनामेति । एतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्याऽपूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमाया[3]न्तीति कृत्वा एक एव भङ्गः । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया देवगति-

१ पञ्चविंशतावेकः षट्चत्वारिंशच्छतानि अष्टोत्तराणि एकोनत्रिंशति । मनुष्यत्रिंशति अष्टौ तु सर्वे षट्चत्वारिंशच्छतानि तु सप्तदश ॥ २ मुद्रि० छा० ०रतानां सर्वविरतानां । ० सं० सं० १ रतानां देवग० ॥ ३ सं० सं० १ त० ०न्तीति एक ए० ॥

प्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा अष्टादश । तदुक्तम्—

[1]अट्ठऽट्ठ एक्क एक्कग, भंगा अट्ठार देव[2]जोगेसु ।

तथा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नत एकं बन्धस्थानं अष्टाविंशतिः, सा चेयम्-नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति । एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनामेकं बन्धस्थानम् एतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र सर्वाण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्गः । एकं तु बन्धस्थानं यशःकीर्तिलक्षणम्, तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम् ॥ २४ ॥

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसङ्ख्यया प्राप्यन्ते ? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

[3]चउ पणवीसा सोलस, नव बाण[4]उईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥ २५ ॥

त्रयोविंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं 'चतुरादिसङ्ख्या बन्धविधयः' बन्धप्रकाराः-बन्धभङ्गा वेदितव्याः । तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वारः, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः, अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः, तत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं ब[5]ध्नतो विंशतिः, अपर्याप्तकद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां च बध्नतामेकैक इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः । षड्विंशतिबन्धस्थाने भङ्गाः षोडश, ते चैकेन्द्रियप्रायो[6]ग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः, अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव-तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ, नरकगतिप्रायोग्यां तु बध्नत ए[7]क इति । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गा अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४८–तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टाविति ।

---

१ अष्टावष्टावेक एकको भङ्गा अष्टादश देवयोग्येषु ॥ २ स० १ त० ०वजुग्गे० । स० म० छा० ०वजोग्गे० ॥ ३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अशीतितमी ॥ ४ स० स० १ छा० ०उइयस० ॥ ५ मुद्रि० ०ध्नतो मिथ्यादृष्टेविंश० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०ग्यामेव ॥ ७ मुद्रि० ०क एवेति ॥

त्रिंशति बन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६४१—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टौ, देवगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिंशतं बध्नत एक इति। तथा एकत्रिंशति बन्धस्थाने एकः। एकविधे चैकः। सर्वसङ्ख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १३९४५ इति ॥ २५ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदं बन्धस्थानानि। सम्प्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

[1]वीसिगवीसा चउवीसगाइ[2] एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २६ ॥

'नाम्नः' नामकर्मण उदयस्थानानि द्वादश। तद्यथा--विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशत्यादयः 'एकाधिकाः' एकैकाधिकास्तावद् वक्तव्या यावदेकत्रिंशत्, तद्यथा—चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, तथा नव अष्टौ च। एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तानाश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यन्ते—

तत्रैकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा---एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च। तत्र तैजस-कार्मणे अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवाः। एताः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येतन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशतिः। अत्र भङ्गाः पञ्च—बादर-सूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्ता-ऽपर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारः, बादर-पर्याप्त यशःकीर्तिभिः सह एक इति। सूक्ष्मा-ऽपर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्तेरुदयो न भ[3]वतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। एषा चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या। ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति चतस्रः प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति। अत्र च भङ्गा दश, तद्यथा—बादरपर्याप्तस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ, सूक्ष्मस्य पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणैरयशःकीर्त्या सह चत्वार इति दश। बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रियं वक्तव्यम्, ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते, केवलमिह बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिपदैरेक एव भङ्गः। तेजस्कायिक-वायुकायिकयोः

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अष्टाशीतितमी ॥ २ सप्ततिकाभाष्ये तु-०इ इगतीसगत एगहिया ॥ ३ स० सं० १ त० ०वतीति तदा० ॥

साधारण यशःकीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ एकादश भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः । अत्र भङ्गाः षट्, तद्यथा[1]—बादरस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, सूक्ष्मस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य (ग्रन्थाग्रम् १२३८) पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे[2]प्रक्षिप्ते षड्विंशतिः, अत्रापि भङ्गाः प्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि भङ्गाः षट्, तद्यथा—बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः; आतपसहितस्य च प्रत्येक यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशतिः षड्विंशतिर्भवति, तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । तेजस्कायिक-वायुकायिकयोरातप-उद्योत-यशःकीर्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गाः । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति, अत्र भङ्गाः षड्, ये प्रागातप-उद्योतान्यतरसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिताः । सर्वसङ्ख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गाः द्विचत्वारिंशत् ४२ ।

उक्तं च—

[3]एगिंदियउदयएसु, पंच य एक्कार सत्त तेरस या ।
छक्कं कमसो भंगा, बायाला हुंति सव्वे वि ॥

द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते । अत्र भङ्गास्त्रयः, तद्यथा—अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य अयशःकीर्त्या सह एकः, पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वाविति । तस्यैव च शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षि-

---

१ स १ त० ०शतिः अत्र ॥ २ स स १ त० म० छा० ०से क्षिप्ते । एवमग्रेऽपि 'प्रक्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने क्षिप्ते, 'क्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने 'प्रक्षिप्ते' इति पाठान्तराणि सन्ति ॥ ३ एकेन्द्रियोदयेषु पञ्च चैकादश सप्त त्रयोदश च । षट् क्रमशो भङ्गा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति सर्वेऽपि ॥

प्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशतिः, अत्रापि भङ्गास्त्रयः, ते च प्रागिव द्रष्टव्याः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगति-पराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः, अत्र यशः-कीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ, अपर्याप्तक-प्रशस्तविहायोगत्योरत्रोदयाभावात् । ततः प्राणा-पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् . अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीर-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिं[1]शत् , अत्रापि[2] प्रागिव द्वौ भङ्गौ । सर्वेऽप्येकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामे-कोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य[3] स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ, सर्वे त्रिंशति षड् भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्त[4]स्य स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया द्वीन्द्रियाणां द्वाविं-शतिर्भङ्गाः । एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् षड् उदयस्थानानि भावनीयानि, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिः, चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधा-तव्या, प्रत्येकं च भङ्गा द्वाविंशतिर्द्वाविंशतिरिति । सर्वसङ्ख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षट्-षष्टिः ६६ । तदुक्तम्—

[5]तिग तिग दुग चउ छ चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि ।

प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् , तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविं-शतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकी-र्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः, एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या । अत्र भङ्गा नव—तत्र पर्याप्तक-नामोदये वर्तमानस्य सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः, अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिभिरेकः ।

अपरे पुनराहुः—सुभगा-ऽऽदेये युगपदुदयमायातः दुर्भगा-ऽनादेये च, ततः पर्याप्तकस्य सुभगा-ऽऽदेययुगलदुर्भगा-ऽनादेययुगलाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गाः,

---

१ सं० १ म० ०शद् भवति, अत्रा० ॥ २ सं० १ ०पि तावेव ॥ ३ त० ०स्य दुस्व० ॥ ४ त० ०स्य सुस्वर० ॥ ५ त्रिक. त्रिको द्विकश्चत्वारः षट् चत्वारो, विकलानां षट्षष्टिर्भवति त्रयाणामपि ॥

अपर्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्च । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गवैषम्यं स्वधिया परिभावनीयम् ।

ततः शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट्कं प्रक्षिप्यते, ततो जाता षड्विंशतिः । अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९—तत्र पर्याप्तस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८, अपर्याप्तकस्य हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहनन-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशः-कीर्तिपदैरेक इति । तस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहा-योगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, तत्र ये प्राक् पर्याप्तानां द्वे शते भङ्गाना-मष्टाशीत्यधिके २८८ उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये, तथा च सत्यत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गाः प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गाः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशति द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि ११५२ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर दुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । अथवा प्राणा-पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गानां प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टा-विंशत्यधिकानि १७२८ । ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति । अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतसङ्ख्याः ११५२ उक्तास्त एवात्रापि द्रष्टव्याः । सर्वसङ्ख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उदयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि ४९०६ ।

[3]तथा इदानीं तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ

---

१ सं० स० २ छा० मुद्रि० ०प्तकहुण्ड० ॥ २ सं० १ त० म० ०दये म० ॥ ३ स० १ सं० त० ०था तेषामे० ॥

प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिर्भवति, तत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । ततः सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियं कुर्वतां षट्पञ्चाशद् भङ्गाः ५६ । सर्वेषां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ४९६२ भङ्गानामवसेयानि ।

सामान्यमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये । एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या, वैक्रिया-ऽऽहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् । तत्र एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ अवगन्तव्यानि । सर्वसङ्ख्यया प्राकृतमनुष्याणां षड्विंशतिशतानि द्व्यधिकानि २६०२ भङ्गानां भवन्ति ।

वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह पञ्चविंशतिः २५ । अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । देशविरतानां संयतानां च वैक्रियं कुर्वतां सर्वप्रशस्त एव भङ्गो वेदितव्यः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्ता[1]यां सप्तविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानामुत्तरवैक्रियं कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासेऽनुदिते उद्योत-

१ सं० १ त० म० ०या सत्यां सप्त० ॥

नाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः, अत्रैक एव भङ्गः, संयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात् । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्रे भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानां स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतानामुद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत् ३५ ।

आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, केवलमिह पदानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति, आहारकसंयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात्, अत एक एवात्र भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य[1] स्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया आहारकशरीरिणां सप्त भङ्गाः ।

केवलिनामुदयस्थानानि दश, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभिः सह विंशतिः, अत्रैको भङ्गः । एषा चातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः अत्राप्येको भङ्गः एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । तथा तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिर्भवति, एषा

१ स० सं० १ त० म० छा० °स्य सुस्व° ॥

चातीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि सम्भवन्तीति न पृथग् गण्यन्ते । एषैव षड्विंशतिः तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति, एषा तीर्थकृत्केवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्यावसेया, अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्, तत एक एवात्र भङ्गः । सैव षड्विंशतिः पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति-सुस्वर दुःस्वरान्यतरस्वर-सहिता त्रिंशद् भवति, एषा चातीर्थकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्तमानस्याव-गन्तव्या, अत्र संस्थानषट्क-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गाः, ते च सामान्यमनुष्योदयस्थाने[1]ष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथग् गण्यन्ते । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरनाम-सहिता एकत्रिंशद् भवति, सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्तमानस्याव-सेया । एषैव एकत्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद् भवति, उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिं[2]शत् । अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि षड्भिः संस्था[3]नैः विहायोगतिद्विकेन[4] च द्वादश भङ्गाः प्राप्यन्ते, ते च प्रागिव न पृथग् गण्यन्ते । तत उच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि संस्था[5]नादिगताः द्वादश भङ्गा न पृथग् गणयितव्याः, सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात् । तथा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादर-नाम पर्याप्तकनाम सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिः तीर्थकरमिति नवोदयः, एष च तीर्थकृतोऽयो-गिकेवलिनश्चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते । स एवातीर्थकरस्य तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदयः । इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति-एकविंशति-सप्तविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्-नवा-ऽष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको विशेषभङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः । तत्र विंशत्यष्टक-योर्भङ्गावतीर्थकृतः, शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड् भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणामुदय-स्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि २६५२ ।

देवानामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभग दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति नव प्रकृतयो[6] द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः, अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्त्तीनामुदयः पिशाचादीनामव-गन्तव्यः । ततः शरीरस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् उपघातं प्रत्येकं समचतुरस्रसंस्थानमिति

---

१ सं० १ त० ०ष्वपि इ० ॥ २ सं० १त० शद् भवति । अ० ॥ ३ छा० म० मुद्रि० °स्थानैः षड् भङ्गाः प्राप्यन्ते वि० ॥४ छा० म० न च द्वादश । ते च प्रागि० ॥ ५ छा० म० मुद्रि० स्थानगताः षड् भ० ६ सं० १ त० म० °यो ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभिः ॥

पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः, दुःस्वरोदयो देवानां न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, उत्तरवैक्रियं हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया देवानां चतुःषष्टिर्भङ्गाः ६४।

नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा–एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयम् अयशःकीर्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सहैकविंशतिः, अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्ता[1]न्येवेति एक एव भङ्गः। ततः शरी[2]रस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते, नरकानुपूर्वी चापनीयते, ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः। सर्वसङ्ख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः। सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ७७९१ ॥ २६ ॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते ? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

[3]एग बियालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥ २७ ॥
अउणत्तीसिक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं।
इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥ २८ ॥

---

१ छा० मुद्रि० 'न्येवेति कृत्वा एक ए°' ॥ २ सं० मुद्रि० '°रपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रि°' ॥ ३ गाथेमे सप्ततिकाभाष्ये द्वाविंशति-त्रयोविंशत्यधिकशततम्यौ ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्याः 'उदयविधयः' उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः। तत्र विंशतावेको भङ्गः, स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेयः। एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, तीर्थंकरमधिकृत्यैकः, सुरानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् ४२। चतुर्विंशतावेकादश, ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानाश्रित्यैकः, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। षड्विंशतौ षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, प्राकृतमनुष्यानप्यधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ इति षट् शतानि ६००। सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशद्—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि १२०२—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७८५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि २९१७—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैकः, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ११६५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, तीर्थकरमधिकृत्यैकः। एको नवोदये। एकोऽष्टोदये। सर्वोदयस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि ७७९१ इति ॥२७–२८॥

१ त० म० °करान° ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदान्युदयस्थानानि । सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह—

तिदुनउई उगुनउई, अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई ।
अट्ठयछप्पणत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥ २९ ॥

नाम्नः—नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः अष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः । सैव तीर्थंकररहिता द्विनवतिः । त्रिनवतिरेवाहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-ऽऽहारकसङ्घाता-ऽऽहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः । सैव तीर्थ-कररहिता अष्टाशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्व्योरथवा देवगति देवानुपूर्व्योरुद्वलितयोः षड-शीतिः; अथवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियसङ्घात-वैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः; अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं बध्नतो देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रिय-चतुष्टयोद्वलने अथवा देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः । ततो मनुजगति-मनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः । एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि । क्षपकाणां पुनरमूनि—त्रिनवतेः नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी--एकेन्द्रियजाति--द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रिय-जाति-चतुरिन्द्रियजाति स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति, द्विनवतेः क्षीणे एकोनाशीतिः, एकोननवतेः क्षीणे षट्सप्ततिः, अष्टाशीतेः क्षीणे पञ्चसप्ततिः । मनुष्यगति—पञ्चेन्द्रियजाति—त्रस[1]-बादर पर्याप्त—सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकराणीति नवकं सत्तास्थानम्, तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते । तदेवातीर्थकर-केवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति ॥२९॥

तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि सम्प्रति संवेधप्रतिपाद[2]नार्थमुपक्रमते—

अट्ठ य बारस बारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
ओहेणादेसेण य, जत्थ जहासंभव वि[3]भजे ॥३०॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्ट-द्वादश-द्वादशसङ्ख्यानि । तानि 'ओघेन' सामान्येन 'आदेशेन च' विशेषेण च 'यथासम्भवं' यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा 'विभजेत्' विकल्पयेद् उत्तरग्रन्थानुसारेण । तत्रामुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यम् । मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्था-

---

१ छा० मुद्रि० ०सनाम बाद० ॥ २ सं १ त० म० ०नार्थमाह ॥ ३ छा० मुद्रि० ०मए ॥

नेषु प्रत्येकमेतावन्ति बन्धस्थानानि एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं च तेषां परस्परं संवेध इत्यादेशः ॥३०॥

तत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह—

नव पचोदय संता, तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नव [1]सत्तुगतीस तीसम्मि ॥३१॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥३२॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य एव, तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च। एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् । तत्र त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणामवसेयः, तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवाद् । चतुर्विंशत्युदयोऽपर्याप्त पर्याप्तैकेन्द्रियाणाम् , अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्या[2]दृष्ट्यादीनाम् । षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चे[3]न्द्रिय-मनुष्याणां च मिथ्या[4]दृष्टीनाम् । सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां च मिथ्यादृष्टीनाम् । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्- त्रिंशदुदयाः पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनाम् । उक्तशेषास्त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि, यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते, न च मनुष्याणां तदुद्वलनसम्भवः । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्तमानस्याशीति-अष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च

---

१ छा त० सत्तिगु० ॥ २ सं० मुद्रि० °दृष्टीनाम् ॥ ३ मुद्रि० त० म० °न्द्रियाणां मनु० ॥ ४ त० म० °दृष्ट्यादीनाम् ॥

नियमा[1]दस्ति, यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्तते इति न तदुद्वलयति, तदभावाच्च न देवद्विक-नरकद्विके अपि, समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात् तथास्वाभाव्यात्, वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चाद् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वम्, तथा चोक्तं चूर्णौ—

[2]वेउव्वियछक्कं उव्वलेउं पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ ।

इत्यशीत्यष्टसप्ततिसत्तास्थानासम्भवः। पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि। तत्राष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान्, यतस्तेजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमाद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति, तथा चाह चूर्णिकृत्-

[3]तेऊवाऊवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधेइ, इति ।

ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते। षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि। नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकानां द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियाणां वा तेजो-वायुभवादनन्तरागतानां पर्याप्ताऽपर्याप्तानाम् ते हि यावद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत् तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम्। सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदयो हि तेजो-वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम्, तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसम्भवादष्टस[4]प्ततिर्न प्राप्यते ॥

अथ कथं तेजो-वायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति, येन तद्वर्जनं क्रियते ? उच्यते—सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते, न च तेजो-वायुष्वातप-उद्योतोदयः सम्भवति, ततस्तद्वर्जनम्।

अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशत् एकत्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। अष्टाविंशत्याद्युदया हि पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम्, एकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम्, ते चावश्यं मनुजगति-मनुजानुपूर्वीसत्कर्माण इति। तदेवं त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति। पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव, केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानां देवानाम् एकविं[5]शति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये। अपर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति, अपर्याप्तेषु विकले-

---

१ सं० सं० १ त० म० ०दस्ति, वै० ॥ २ वैक्रियषट्कं उद्वलय्य पश्चाद् मनुजद्विकं उद्वलयति ॥ ३ तेजो-वायुवर्जं पर्याप्तको मनुजगतिं नियमाद् बध्नाति ॥ ४ स० १ त० म० ०प्ततिर्नावाप्य० ॥ ५ स० छा० ०शति-पञ्चविंशति-सप्त० ॥

न्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशच्चत्वारिंशच्च सत्तास्थानानि ।

"अट्ठ चउरऽट्ठवीसे" त्ति अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशतिः—देवगतिप्रतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्याया बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेयः । पञ्चविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरस्थानाम् । सप्तविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां तु [1]सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्या[2]प्त्या प्राणापानपर्याप्त्या च पर्याप्तानां तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा, तथा आहारकसंय[3]तानां वैक्रियसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयस्तिर्यङ्-मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा, तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां वा । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशाम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानामाहारकसंयत-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्राहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानम्, शेषाश्च तिर्यञ्चो मनु[4]ष्या वा आहारकसत्कर्माणः तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदुदये देवगति-नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्र द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया ।

---

१ सं० १ त० म० च ॥ २ मुद्रि० छा० ०प्त्या पर्याप्तानां प्राणा० ॥ ३ स० म० मुद्रि० ०तानां वैक्रियतिर्यग् म० ॥ ४ स० १ त० म० ०ष्याश्च आ० ॥

एकोननवतिः पुनरेवम्—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुखः सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतः, तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावाद् नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवतिः सत्तायां प्राप्यते। षडशीतिस्त्वेवम्—इह तीर्थकरा-ऽऽहारकचतुष्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीतिर्भवति, ततस्तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्यो वा जातः सन् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो यदि विशुद्धः ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टयं च सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीतिः। अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टयं चावश्यं बध्यमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीतिः। एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एकोननवतिरिह न प्राप्यते, एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते, न च तिर्यक्षु तीर्थकरनाम सद् भवति, तीर्थकरनामसत्कर्मणः तिर्यक्षूत्पादाभावात्। षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या। तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावप्युदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनविंशतिसङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति।

"नव सत्तुगतीस तीसम्मि" एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येकं नव नवोदयस्थानानि, सप्त सप्त सत्तास्थानानि। तत्रोदयस्थानान्यमूनि, तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयस्तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्याणां देव नैरयिकाणां च[1]। चतुर्विंशत्युदयः पर्याप्ता ऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्। पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देव नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम् षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां। सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देव-नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम्। अष्टाविंशत्युदय एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्य देव-नैरयिकाणां च। त्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां देवानां च उद्योतवेदकानाम्। एकत्रिंशदुदयः पर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा उद्योतवेदकानाम्। तथा देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतो मनुष्यस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्च उदय-

१ स० सं० १ त० म० ०पु भवति। न॥ २ सं० १ म० न्द्रियाणा पर्याप्तापर्याप्तविक०। स० विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्य०॥ ३ सं० १ म० चावसेय०। च०॥ ४ त० म० ०ष्याणां दे०॥

स्थानानि, तद्यथा–पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वतां मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि । त्रिंशत् कस्मान्न भवति ? इति चेदुच्यते–संयतान् मुक्त्वाऽन्येषां मनुष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभावात् । सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे सप्त सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्र विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये वर्तमानानां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशति-पञ्चविंशतिः-षड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि[1] चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, भावना यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्राग् उक्ता तथाऽत्रापि कर्तव्या । मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गति-मनुष्यगतिप्रायोग्यां पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वस्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव च[3]त्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । देव-नैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा–द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरसत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या, यतस्तीर्थकरनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनसम्भवः, "[4]उभमंतिओ न मिच्छो" इति वचनात् ; ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्केऽपनीते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा–त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यम् । तदेवं सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे एकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि ५४ । तथा यथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय- तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज देव नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानानि भावितानि

---

१ मुद्रि० छा० ०नान्यमूनि, त० ॥२ सं० स १ त० म० ०र्जानि चत्वारि सत्ता० ॥३ सं० स० १ त० ०त्वारि चत्वारि सत्ता० ॥ ४ उभयसत्ताको न मिथ्यादृष्टि ॥

तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदय-सत्तास्थानानि भावनीयानि। मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देव नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते, तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानं एकोननवतिः। त्रिनवतिरूपं तु तस्य सत्तास्थानं न भवति, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्।

उक्तं च चूर्णौ—

'जस्स तित्थगरा-ऽऽहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ। इति।

एवं पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयम्। नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते, त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते, न च नैरयिकस्योद्योतोदयो भवति। तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये पञ्च, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ ॥ ३१ ॥

"एगेगमेगतीसे" त्ति एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत्, यत एकत्रिंशद् देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरा-ऽऽहारकस[2]हितं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते, न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति, ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते। एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः, तीर्थकरा-ऽऽहारकचतुष्टययोरपि सत्तासम्भवात्।

"एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि" 'एकस्मिन्' यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत्, एकां हि यशःकीर्तिं बध्नन्ति अपूर्वकरणादयः, ते चातिविशुद्धत्वाद् वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते, ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते। अष्टौ स[3]त्तायां स्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यां यावदनिवृत्तिबादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षप्यन्ते। त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेसु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते, तानि च तावद् लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्।

"उवरयबंधे दस दस वेयग संतम्मि ठाणाणि" उपरते बन्धे बन्धाभावे इत्यर्थः, "वेयग" त्ति वेदनं वेदो वेद एव वेदकस्तस्मिन् उदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश स्थानानि। तत्रामूनि दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टा-

---

१ यस्य तीर्थकरा ऽऽहारके युगपत् स्तः स नैरयिकेषु नोपपद्यते ॥ २ स० १ त० म० ०सहितं कर्मब० ॥ ३ सं१ त० छा० म० त्तास्था० ॥

विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशती-एकविंशति-यथाससङ्ख्यम-तीर्थकर तीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः, षड्विंशति-सप्तविंशती तयो-रेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोः । अतीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे त्रिंशत, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत् : एवं च द्विधा त्रिंशद्-एकोन-त्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयः, अतीर्थकरस्यायो-गिनोऽष्टोदयः । दश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्ता-स्थाने—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एवं षड्विंशत्युदयेऽष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्यम् । एकविं-शत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोन-त्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । यत एकोनत्रिंशत् तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति, तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये, । अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्यु-पशान्तकषायस्य[2] । अशीतिः क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा आहारकसत्कर्मणः तीर्थकरस्य । तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः । आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिके-वलिनो वा षट्सप्ततिः । तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एते च तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये, अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुद-यस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये, चरमसमये तु नव । अष्टो-दये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगि-केवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावद्, वेदितव्ये, चरमसमये त्वष्टाविति । एवमबन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि अधिकृत्य त्रिंशत् सत्तास्थानानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवमुक्ता[3] नामप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च । सम्प्रत्युक्तक्रमेणैवैषां जीव-स्थानानि गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी[4] निदर्श्यते—

१ सं० छा० मुद्रि० ०शत, तस्यैवोच्छ्वा० ॥ २ त० म० मुद्रि० ०स्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य च यावत् त्रयोदशक न क्षीयते । अन्त्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य सयो° ॥ ३ सं० स० १ सं २°क्ताः प्रकृ° । मुद्रि० छा० ०क्ता उत्तरप्रकृ० ॥ ४ सं १ त० म० ०मी निर्दिश्यते ॥

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३३ ॥

त्रयो विकल्पाः—बन्ध-उदय-सत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि प्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैः जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः, भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथम् ? इत्याह—"जत्थ जहा संभवो हवइ" यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च 'यथा सम्भवो भवति' यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः, यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा[1] वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमतो जीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३४ ॥

सङ्क्षिप्यन्ते-सङ्गृह्यन्ते जीवा एभिरिति सङ्क्षेपाः-अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां सङ्क्षेपा जीवसङ्क्षेपा जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्बन्ध-उदय-सत्तारूपास्त्रयो विकल्पाः प्राप्यन्ते, तद्यथा—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात् । सूत्रे "तिविगप्पो" इति द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः । "एक्कम्मि तिदुविगप्पो" 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो वा विकल्पा भवन्ति, द्वौ वा विकल्पौ । तत्र त्रयो विकल्पा इमे—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते । ततः परं बन्धव्यवच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ, तद्यथा—पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति, उदय-सत्तयोर्युगपद् व्यवच्छेदात् "करणं पइ एत्थ अविगप्पो" त्ति इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति, द्रव्यमनःसम्बन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते । उक्तं च चूर्णौ—

[2]मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति ।
मणोविण्णाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति । इति ।

ततः करणं—द्रव्यमनोरूपं प्रतीत्य यः संज्ञी सयोगिकेवली अयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् 'अत्र' ज्ञानावरणेऽन्तराये च 'अविकल्पः' त्रयाणामपि बन्धादिरूपाणां विकल्पानामभावः, आमूलं तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात् ॥ ३४ ॥

---

१ छा० ०था कर्तव्य० ॥ २ मनःकरणं केवलिनोऽपि अस्ति तेन संज्ञिन उच्यन्ते । मनोविज्ञ न प्रतीत्य ते संज्ञिनो न भवन्ति ॥

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति—

तेरे नव चउ पणगं, नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा ।

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ । "एगम्मि भंगमेक्कार" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गाः, ते च यथा प्राक् सामान्येन सवेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथागमं जीवस्थानेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत् । तत्रेयं वेदनीय-गोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तग तिगं च गोए[1], पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ १ ॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः, तद्यथा—असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थान[2]कात् आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धाभावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते । ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु, 'असातस्योदयः असातस्य सत्ता' यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ भङ्गाः । इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् संज्ञी व्यवह्रियते, ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्र[3]त्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती[4], अथवा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती,[5] अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती ।

---

१ सं० १ स० २ मुद्रि० ०ग वत्तव्वा जीवठाणेसु ॥ २ मुद्रि० ०कात् प्रभृति प्र० ॥ ३ सं० सं० २ ०त्येकं चत्वा० ॥ ४–५ स० १ त० म० ०ती, तथा सा० ॥

"सत्तग तिगं च गोए" इति 'गोत्रे' गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः, तद्यथा–नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् , एष विकल्पस्तेजः-वायुभवाद् उद्वृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनो[1]त्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते। नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ च विकल्पौ-पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ, तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्[2]। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवसेयः । परतो बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिके[3]वलिनि द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत् , एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । 'इतरेषु पुनः' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, तद्यथा–नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् , अयं विकल्पस्तेजः-वायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तरं सर्वकालं तेजः-वायुभवाद् उद्वृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादि-द्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते, नान्येषु[4] । नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति, तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ॥

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तापज्जत्तग, समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं, नवगं पणगं, च आउस्स ॥ २ ॥

समनाः–संज्ञी, तत्र पर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो भङ्गा अष्टाविंशतिः, अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशकम् , पर्याप्ते 'अमनसि' असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवकम् , 'शेषेषु' एकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येकं पञ्चकमिति । तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः—नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत् , अयं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् , परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-मनुष्यायुषी सती । परभवायुर्बन्धोत्तरकालं नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा नरकायुष उदयः मनुष्य[5]-नारकायुषी सती । इह नारका देवायु-

१ स० १ त० म० ०त्पन्नेषु कि० ॥ २ सं० १ त० म० ०त् । उच्चै० ॥ ३ स० २ मुद्रि० ०वलिद्वि० ॥ ४ छा० मुद्रि० ०षु । तथा नीचै० ॥ ५ छा० मुद्रि० ०ष्य-न० ॥

नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्, ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्च विकल्पाः। एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः, नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि। तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः देव-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तर[1]काले तिर्यगायुष उदयो नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती। सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः। एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः, केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेत्यादि। तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिनि पर्याप्तेऽष्टाविंशतिर्भङ्गाः। अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गा इमे— तिर्यगायुषः उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषोः सत्ता, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाले तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती। एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः। एवं मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः। सर्वसङ्ख्यया दश। शेषा न सम्भवन्ति, अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा, न देव-नारकौ, न चापि स देवायुर्नारका[2]युर्वा बध्नाति, ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः। तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा उक्तास्त एवाऽसंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः, यतोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादिः, ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते। तथा येऽपर्याप्तसंज्ञितिरश्चः[3] पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्त एव[4] पञ्च भङ्गाः शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्याः, सर्वेषामपि तिर्यक्त्वाद् देवादिषूत्पादाभावाच्च।

मोहं परं वोच्छं ॥ ३५ ॥

अत परं 'मोहं' मोहनीयं जीवस्थानेषु वक्ष्ये ॥३५॥

अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबंधगए[5]।
तिग चउ नव उदयगए, तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥ ३६ ॥

---

१ स० ०काले तिर्य० ॥ २ सं० १ त० म० ०युर्वध्ना० ॥ ३ छा० ०श्चां प० ॥ ४ स० स० १ त० म० ०व भङ्गा. ॥ ५ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये ५५ तमी ॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रमं एकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति । तत्र 'अष्टसु' पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेयम्—मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भयं जुगुप्सा चेति । अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षड् भङ्गा भवन्ति । पर्याप्तबाद[1]र द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिः प्रागिव [2]सभेदा वक्तव्या । सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशतिः । सा च केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषाम्, शेषकालं वा । अत्र चत्वारो भङ्गाः, यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, नपुंसकवेद-बन्धस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् । ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां द्वाभ्यां च युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गाः । एकस्मिंस्तु पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि, तानि च प्राग्वद् [3]सभेदानि वक्तव्यानि ।

"तिग चउ नव उदयगए" इति, यथोक्तरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं [4]त्रीणि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च । यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्न प्राप्यते, तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् । वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ । ततः 'अष्टोदये' मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसक-वेदोऽन्यतरद् युगलमित्येवंरूपे चतुर्भिः क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ । अष्टोदये एव भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदयः, अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया नवोदये भङ्गाः षोडश । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदयः, अत्र भङ्गा अष्टौ । सर्वसङ्ख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद् भङ्गाः । तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सासादनभावकाले एकविंशतिबन्धे सप्ता-ऽष्ट-नवरूपाणि त्रीण्युदयस्थानानि, वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदः, ततोऽन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरद् युगलमिति सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः, अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः, अत्र प्रत्येकं भये जुगुप्सायां चाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्यष्टोदये सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः षोडश । ततो भय-जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः, अत्राप्टावेव भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया सासादन-

१ सं० १ त० म० °दरपर्याप्तद्वि° ॥ २-३ मुद्रि० छा० सप्रभे° ॥ ४ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु केषुचिदादर्शेषु "त्रीणि त्रीणि" इति वारद्वयं लिखितं नोपलभ्यते केषुचित् पुनर्लभ्यते । एवमग्रेऽपि "त्रीणि त्रीणि, चत्वारि चत्वारि, द्वादश द्वादश, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद्" इत्यादिष्वपि ज्ञेयम् ॥

भावे भङ्गा द्वात्रिंशत् । सासादनभावा-ऽभावे द्वाविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा, अष्टौ नव दश च । एतानि च प्रागिव भावनीयानि ; चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धिपर्याप्तके त्रीन् वेदान् यथायोगमु`दयप्राप्तानिच्छति, ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादावुदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिभङ्गा अवसेयाः । 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

"तिग तिग पन्नरस संतम्मि" 'अष्टसु' पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा–अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । 'पञ्चस्वपि च' उक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि । 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

सम्प्रति संवेध उच्यते–तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिबन्धस्थानम्, त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–अष्टौ नव दश च । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव सत्तास्थानानि । पञ्चसूक्तरूपेषु जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा–द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्युदयस्थानानि, एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि । एकविंशतिबन्धेऽमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानं अष्टाविंशतिः, एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते, सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणः, तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्, ततस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिरेव । तदेवमेकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, द्वाविंशतिबन्धे च नवेति । सर्वसङ्ख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति । 'एकस्मिन्' संज्ञिपर्याप्ते पुनः जीवस्थाने संवेधः प्रागुक्त एव सप्रपञ्चो द्रष्टव्यः ॥ ३६ ॥

सम्प्रति नामकर्म जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह–

पण दुग पणगं पण चउ, पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पण छ प्पणगं छ च्छ प्पणगं अट्ठऽट्ठ दसगं ति ॥ ३७ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता, सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ, तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

अनयोर्गाथयोः पदानां यथाक्रमं सम्बन्धः, तद्यथा–"पण दुग पण`गं" इति "सामी सत्तेव अपज्जत्ता" बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां यथाक्रमं पञ्चकं पञ्चकं द्विकं च प्रति स्वामिनः

१ सं० १ त० म० ०दयस्थाने प्राप्ता० ॥ २ स० स० १ त० म० ०णग" ति "सा० ॥

सप्तैवापर्याप्ताः । इयमत्र भावना–सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि, द्वे द्वे उदयस्थाने, पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र बन्धस्थानान्यमूनि–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अपर्याप्ता हि सप्तापि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न देव-नारकप्रायोग्यम्, ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, नोनाधिकानि । तानि च तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्चं वक्तव्यानि । उदयस्थाने पुनरपर्याप्तबादर सूक्ष्मैकेन्द्रिययोरिमे––एकविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियम्––तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तैजसं कार्मणं अगुरुलघु वर्णादिचतुष्टयम् एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते, अत्र चैक एव भङ्गः, अपर्याप्तस्य परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुदयाभावात् । सूक्ष्मापर्याप्तकस्याप्येषैवैकविंशतिरवसेया, नवरं बादरनामस्थाने सूक्ष्मनामेति वक्तव्यम्, अत्राप्येक एव भङ्गः । उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टये प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशतिः, अत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य बादरापर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ । तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने, तद्यथा––एकविंशतिः षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामियम्––तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति[3] एक एव भङ्गः । ततः शरीरस्थस्यौदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते, तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते, ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यम्, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्याद्युच्चारणीयम् । तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ, केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः, यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्चः प्राप्येते, द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति । तथा प्रत्येकं सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव द्रष्टव्यम् ।

"पण चउ पणगं" ति "सुहुमा" इति सम्बध्यते । सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि च तिर्यग्-मनुष्य-

१ स० १ त० म० छा० ०ष्यगतिप्रा० ॥ २ मुद्रि० छा० ०प्येषैव चैक० ॥ ३ छा० मुद्रि० ०ति कृत्वैक ए० ॥

प्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि, तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसम्भवात्। एतेषां च स्वरूपं प्रागिव सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम्। उदयस्थानानि चत्वारि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च। तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति। एषा चैकविंशतिः सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्रैको भङ्गः, प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्यभावात्। अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति, सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते, अत्र प्रत्येक-साधारणाभ्यां द्वौ भङ्गौ। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। सर्वसङ्ख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गाः सप्त। पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः, अष्टसप्ततिश्च। केवलं पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं यः साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टासप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, वक्तव्यानि, शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेजः-वायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्यौ नियमाद् बध्नाति, पञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवतः, ततः साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये चाष्टासप्ततिर्न प्राप्यते। प्रत्येकपदे पुनस्तेजः-वायुकायिकावप्यन्तर्भवत इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते। तदेवं साधारणपदानुगौ पञ्चविंशति-षड्विंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतुःसत्तास्थानकौ, शेषास्तु पञ्च भङ्गाः पञ्चसत्तास्थानकाः।

"पणगा हवन्ति तिन्नेव" अत्र "बायरा" इति सम्बध्यते। पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशति षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतानि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि। उदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च, तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-स्थिरे शुभाऽऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति। एषा चैकविंशतिः पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ। ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंश-

---

१ स० २ त० म० ०र्नावाप्य०॥

तिर्भवति, अत्र प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः, यतस्तस्य साधारण-यशःकीर्ती उदयं नागच्छतः, अन्यच्च वैक्रियवायुकायिकचतुर्विंशतावौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यम्, शेषं तथैव । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशतिः, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशति, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतान्यतरस्मिंस्तूदिते षड्विंशतिः, अत्रातपेन प्रत्येक-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ, साधारणस्यातपोदयाभावात् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवतः । उद्योतेन प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः । सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतावेकादश भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः, अत्र प्रागिवातपेन द्वौ, उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः । सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिभ्यां य एकैको भङ्गः, यौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ, ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतुर्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते [1]सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषास्त्वेकविंशतिसङ्ख्याश्चतुःसत्तास्थानकाः ।

"पण छ प्पणगं" ति अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति सम्बध्यते । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि । षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्याम् । ततः शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघातेऽप्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ; अथवा तस्यामेवाष्टाविंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ,

१ मुद्रि० छा० सर्वेऽपि स० ॥

सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गाः सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः; अथवोच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत्, अत्रोद्योत-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ; सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति षड् भङ्गाः[1] । स्वरसहितायामेव त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशत्, अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशतिः । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षड्विंशत्यु[2]दये एते चत्वारः पञ्चसत्तास्थानकाः, यतोऽष्टसप्ततिस्तेजः-वायुभवादुद्वृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्कालं प्राप्यते, शेषास्तु षोडश भङ्गकाश्चतुःसत्तास्थानकाः, तेष्वष्टसप्ततेरप्राप्यमाणत्वात् । तेजः-वायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ता नियमतो मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति, [3]ततोऽष्टाविंशत्याद्युदयेष्वष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । एवं त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् ।

"छ च्छ प्पणगं" ति अत्र "असन्नी य" इति सम्बध्यते । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ताः नरकगति-देवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति । ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते । षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिराऽस्थिरे शुभाऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरं आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय[4]पर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते । अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः । ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते, तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते, ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भ[5]ङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति ५७६ ।

---

१ स० ? त० म० °गाः । सुस्व° ॥ २ सं० १ त० म० छा० °दये द्वौ भङ्गौ एते च° ॥ ३ मुद्रि० ततः सप्तति° ॥ ४ स० °न्द्रियस्य पर्या० । छा० °न्द्रियापर्या० ॥ ५ सं० त० म० °ङ्गाः पञ्च श० ॥

ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६; अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते [1]उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानाम् ५७६, सर्वसङ्ख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधि[2]कानि ११५२। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ स्वरद्विकेन गुण्यन्ते तत एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ भवन्ति; अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गाः सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८। ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकानि ४९०४। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिहीनत्वाद् वैक्रियं नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते। सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा— द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। अत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गाः षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्याः २८८ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषाः सर्वेऽपि चतुःसत्तास्थानकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या।

"अट्ठऽट्ठ दसगं" ति अत्र "सन्नीय" इति सम्बध्यते। संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि, तानि चाष्टौ विंशति-चतुर्विंशति-नवा-ऽष्टरहितानि। सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ, विंशति-नवा-ऽष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति, चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणाम्, अत एते वर्ज्यन्ते. अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति[3] तदुदयप्रतिषेधः। नवा-ऽष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि, तानि च दश। अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ, षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्याः, २८८ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषाश्चतुःसत्तास्थानकाः।

सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते—सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धनामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। एवं चतुर्विंशत्युदयेऽपि। सर्वसङ्ख्यया दश। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानान्यवगन्तव्यानि, सर्वसङ्ख्यया पञ्चाशत् ५०। एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्तानां भावनीयम्, नवरमात्मीये आत्मीये द्वे द्वे उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये। सूक्ष्मपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु

१ मुद्रि० उद्योतनाम्नि तू० ॥ २ स० १ त० म० °कानि ११५२ भवन्ति ॥ ३ मुद्रि छा० °ति कृत्वा त° ॥

चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। ततः सूक्ष्मपर्याप्तानां सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि शतम् १००। बादरैकेन्द्रियपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्तास्थानानि वाच्यानि। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंशं शतं १२० सत्तास्थानानाम्। द्वीन्द्रियपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानाम् एकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च[2] पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि[3], अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेषु[4] तु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानां प्रत्येकं षड्विंशतिः षड्विंशतिः सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशं शतम् १३०। एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणा[5]मपि पर्याप्तानां वक्तव्यम्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद् एकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। अष्टाविंशतिबन्धकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशदेकत्रिंशच्च। तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या वा, ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्यं वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीति-अष्टसप्तती न प्राप्येते। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशं सत्तास्थानानां शतम् १३६। पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागिव षड्विंशतिः सत्तास्थानानि वाच्यानि। एवं पञ्चविंशतिबन्धकानामपि, नवरं देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एतानि च [6]प्रागुक्तषड्विंशतिसत्तास्थानापेक्षयाऽधिकानि प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धकानां त्रिंशत्। षड्विंशतिबन्धकानामपि त्रिंशत्। अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशच्चेति। तत्रैकविंशतौ द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एते एव द्वे पञ्चविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्ये। त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा--द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एतेषां च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे संवेधचिन्तायां विस्तरेण कृतेति न भूयः क्रियते, विशे-

---

१ सं० वक्तव्यानि ॥ २ सं० १ तं० मं० च प्रत्येकं प० ॥ ३ सं० ०नि, ग्रन्थाग्रम् २०००, अ० ॥ ४ सं० १ तं० मं० तु चत्वा० ॥ ५ सं० सं० १ सं० २ तं० मं० ०मपि वक्त० ६ १ सं० छा० प्राक्तनव० ॥

षाभावाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशतिः सत्तास्थानानि । एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । नवरमत्र विशेषो भण्यते—अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः एकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने भवतः, तद्यथा––त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसंयत-संयतासंयतानधिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्ता[1]स्थाने । अथवा आहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च त्रिनवतिः, नैरयिकं तीर्थकरसत्कर्माणं मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवतिः । [2]सर्वाणि चतुर्दश । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् । त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । केवलं देवानां मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां एकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा––त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एतानि च द्वादश, ततः सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानम् , एकत्रिंशतं हि तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितामेव बध्नाति, ततस्तीर्थकरा-ऽऽहारकयोरपि सत्तायां प्रक्षेपे त्रिनवतिरेव भवति । एकविधबन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यां यावद् नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते, तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते । बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि; केवलमाद्यानि चत्वार्युपशान्तमोहगुणस्थानके, उपरितनानि तु चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थानके । तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्तानां द्वे शते सत्तास्थानानामष्टाधिके २०८ । यदि पुनर्द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति । तथाहि––केवलिनां दश उदयस्थानानि, तद्यथा––विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा–एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदया-ऽष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येकं द्रष्टव्ये । एकत्रिंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने–अशीतिः षट्सप्ततिश्च[3] । ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिं-

---

१ सं० १त० म० ०स्थाने भवत । अथ० ॥ २ सं० १ त० म० ०र्वाण्यपि चतु० ॥ ३ सं० २ ०श्च । एते च सं० ॥

शदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा=अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च। एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरेऽतीर्थकरे च प्राप्यते, तत्र तीर्थकरमधिकृत्याद्ये द्वे सत्तास्थाने, अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे । एवं त्रिंशदुदयेऽपि चत्वारि । एकत्रिंशदुदये द्वे–अशीतिः षट्सप्ततिश्च । नवोदये[1] त्रीणि, तद्यथा–अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि, तद्यथा–एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अतीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत्, चरमसमये त्वष्टाविति । सर्वसमुदायेन संज्ञिनां चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते २३४ सत्तास्थानानाम्[2] ॥ ३७ ॥ ३८॥

तदेवं जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह–

नाणंतराय तिविहमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणमन्तरायं च 'त्रिविधमपि' बन्ध-उदय-सत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थः । 'द्वयोः पुनर्गुणस्थानकयोः' उपशान्तमोह-क्षीणमोहरूपयोः 'द्वे' उदय-सत्ते स्तः, न बन्धः, बन्धस्य सूक्ष्मसम्पराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च ज्ञानावरणीयाऽन्तराययोः प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा च सत्ता भवतीति, परत उदय-सत्तयोरप्यभावः ।

मिच्छासाणे बिइए, नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥

'द्वितीये' द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्धः, चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः, नवविधा सत्ता[3], द्वयोरप्यनयोर्गुणस्थानकयोः स्त्यानर्द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् । "नव य संतंस" त्ति नव च 'सत्तांशाः' सत्ताभेदाः सत्प्रकृतय इत्यर्थः । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा–नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, अथवा नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ॥ ३९ ॥

मिस्साइ नियट्टीओ छ चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण, नवंस दुसु जुयल छ स्संता ॥ ४० ॥

---

१ स० १ त० म० ०दयेऽपि त्री० ॥ २ अत्र स० २ पुस्तके–"चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया, सत्ताविकल्पाः १३३०" इति टिप्पणकं वर्तते ॥ स१त० म० पुस्तकेषु त्वित ऊर्ध्वम्–"तदेवं चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि १३३०" इति पाठः टीकान्तरेषु दृश्यते । स छा० मुद्रि० पुस्तकेषु च सर्वथा नास्ति ॥ ३ स० १ त० म० ०त्ता इत्यर्थः । छा० मुद्रि० ०त्ता इति द्वौ विकल्पौ द्वयोर० ॥

'मिश्रादिषु' मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु 'निवृत्तौ' च अपूर्वकरणे च अपूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे सङ्ख्येयतमभागे चेत्यर्थः, परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्विधबन्धासम्भवात्, तत एतेषु षड्विधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्तेति द्वौ विकल्पौ। "चउबंध तिगे चउ पण नवंस" त्ति इहापूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽत ऊर्ध्वमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्धः । ततः 'त्रिके' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः, "नवंस" इति नवविधा सत्तेति प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ, अंश इति सत्ताऽभिधीयते । एतच्चोक्तमुपशमश्रेणीमधिकृत्य, क्षपकश्रेण्यां गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसम्पराये च नवविधायाः सत्ताया अप्राप्यमाणत्वात् "दुसु जुयल छ स्संत" त्ति इह क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन भागे सङ्ख्येयतमेऽवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति, ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षड्विधैव सत्ता भवति, तत आह—"दुसु" त्ति 'द्वयोः' अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराययोर्युगलमिति बन्ध-उदयावुच्येते । चतुरिति चानुवर्तते, ततश्चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः "छ स्संत" त्ति षड्विधा सत्ता । अत्र पञ्चविध उदयो न प्राप्यते, क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे**—

[1]इंदियपज्जत्तीए अणंतरे समए सव्वो वि निद्दापयलमुदीरगो भवइ, नवरं खीणकसायखवगे मोत्तूणं, तेसिं उदओ नत्थि त्ति काउं ॥४०॥

उवसंते चउ पण नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संतं ।

'उपशान्ते' उपशान्तमोहे बन्धो न भवति, तस्य सूक्ष्मसम्पराये एव व्यवच्छिन्नत्वात्, ततः केवलश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता । उपशमकोपशान्तमोहा ह्यत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति, ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदयः सम्भवति 'क्षीणे' क्षीणमोहे चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष विकल्पो द्विचरमसमयं यावत् । चरमसमये तु निद्रा-प्रचलयोः सत्ताव्यवच्छेदाद् अयं विकल्पः—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीयाऽऽयु-र्गोत्राणां बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि यथागमं गुणस्थानकेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत् ।

---

[1]इन्द्रियपर्याप्त्या अनन्तरे समये सर्वोऽपि निद्रा-प्रचलयोरुदीरको भवति, नवरं क्षीणकषाय-क्षपकान् मुक्त्वा, तेषामुदयो नास्तीति कृत्वा ॥ २ त० म००मके उप० ॥

तत्र वेदनीय-गोत्रयोर्भङ्गनिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु, एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु, एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु षट्सु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो भङ्गाः, ते चेमे —असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । तथाऽप्रमत्तसंयतादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु सप्तसु गुणस्थानकेषु द्वौ भङ्गौ, तौ चानन्तरोक्तावेव तृतीयचतुर्थौ ज्ञातव्यौ, एते हि सातमेव बध्नन्ति नासातम् । तथा 'एकस्मिन्' अयोगिकेवलिनि चत्वारो भङ्गाः, ते चेमे—असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते; चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणम्, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः—सातस्योदयः सातस्य सत्ता ।

"गोए" इत्यादि । 'गोत्रे' गोत्रस्य पञ्च भङ्गा मिथ्यादृष्टौ, ते चेमे—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेषु कियत्कालम् । नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीच्चैर्गोत्रे सती, उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । सासादनस्य प्रथमवर्जाः शेषाश्चत्वारो भङ्गाः । प्रथमो हि भङ्गस्तेजः-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा कियत्कालम् । न च तेजः-वायुषु सासादनभावो लभ्यते, नापि तद्भवादुद्वृत्तेषु तत्कालम्, अतोऽत्र प्रथमभङ्गप्रतिषेधः । तथा 'त्रिषु' मिश्रा-ऽविरत देशविरतेषु चतुर्थ-पञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ भवतः, न शेषाः, मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्रं न बध्नन्ति । अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते–देशविरतस्य पञ्चम एवैको भङ्गः, "[1]सामन्नेणं वय जाईए उच्चागोयस्स उदओ होइ" । इति वचनात् ।

"एगऽट्ठसु" त्ति प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः । तत्र प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु केवलः पञ्चमो भङ्गः, तेषामुच्चैर्गोत्रस्यैव बन्ध-उदयसम्भवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येकमयं विकल्पः—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती ।

---

१ सामान्येन व्रत-जात्यो उच्चैर्गोत्रस्य उदयो भवति ॥ २ सं० त० म० °जाइ पडुच्च उ° एव ।

"दोन्नि एक्कम्मि" त्ति एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो द्विचरमसमयं यावत्। चरमसमये त्वेष विकल्पः—उच्चैर्गोत्र-स्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत्। नीचैर्गोत्रं हि द्विचरमसमये क्षीणमिति चरमसमये न सत् प्राप्यते॥

सम्प्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

'अट्ठच्छाहिगवीसा सोलस वीसं च बार[2] छ दोसु।
दो चउसु तीसु एक्कं, मिच्छाइसु आउगे भंगा॥ ४॥'

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु अयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमेणैतेऽष्टाधिकविंशत्या-दय आयुषि भङ्गाः। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेऽष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गाः। मिथ्यादृष्टयो हि चतुर्गतिका अपि भवन्ति। तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च, तिरश्चोऽधिकृत्य नव, मनुष्यानप्य-धिकृत्य नव, देवानधिकृत्य पञ्च, एते च प्रागेव सप्रपञ्चं भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते। सासादनस्य षडधिका विंशतिः, यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नरकायुर्न बध्नन्ति, ततः प्रत्येकं तिरश्चां मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यत इति षड्विंशतिः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश, सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि नायुर्बन्धमारभन्ते, तत आयु-र्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ, ये च तिरश्चां चत्वारः, ये च मनुष्याणामपि चत्वारः, यौ च देवानां द्वौ, तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति। अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिभङ्गाः, कथम्? इति चेद् उच्यते—तिर्यङ्-मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरक-तिर्यङ्-मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः, यश्च देव-नैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः, ते अविरतसम्यग्दृष्टेर्न सम्भवन्ति, ततः शेषा विंशतिरेव भवति। देश-विरतेर्द्वादश भङ्गाः, यतो देशविरतिस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव भवति, ते च तिर्यङ्-मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति, न शेषमायुः, ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येकं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वमेकैको भङ्गः, परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैकः, आयुर्बन्धोत्तरकालं च चत्वारश्चत्वारः, यतः केचित् तिर्यञ्चो मनुष्याश्च चतु[3]र्णामेकमन्यतमदायुर्बद्ध्वा देशवि-रतिं प्रतिपद्यन्ते, ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया द्वादश। "छ दोसु" त्ति 'द्वयोः' प्रमत्ता-ऽप्रमत्तयोः प्रत्येकं षट् षड् भङ्गाः। प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति, तत आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः, आयुर्बन्धकालेऽप्येकः, प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नन्ति न शेषमायुः, बन्धोत्तरकालं च प्रागुक्तदेशवि[4]रत्युक्त्यनुसारेण चत्वार इति।

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये त्रयोदशी॥ २ मुद्रि० ०रस छ दोसु॥ ३ सं० १ त० म० र्णामन्य०॥ ४ सं० १ म० त० ०रतियुक्त्यनु०॥

"दो चउसु" त्ति 'चतुर्षु' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्; अथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-देवायुषी सती, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम्, एते ह्यायुर्न बध्नन्ति, अतिविशुद्धत्वात्। पूर्वबद्धे चायुषि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि। तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—

[1]तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ॥ (गा० ३७५)

तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ। पूर्वबद्धायुष्कास्तु क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यन्ते, तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तम्। क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैक एव भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति। "तीसु एक्कं" ति 'त्रिषु' क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अ[2]योगिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता। शेषा न सम्भवन्ति।

तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिताः, सम्प्रति मोहनीयं प्रत्याह—

मोहं परं वोच्छं॥ ४१॥

अतः परं 'मोहं' मोहनीयं वक्ष्ये॥ ४१॥

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु।
पंचानियट्टिठाणे, बंधोवरमो परं तत्तो॥ ४२॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु अष्टसु गुणस्थानकेषु भवति, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, देशविरतस्य त्रयोदश, प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव। एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते, विशेषाभावात्। केवलमप्रमत्ता ऽपूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्यः, अरति-शोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात्। [3]प्राक् च प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ। "पंचानियट्टिठाणे" अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति। 'ततः' अनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसम्परायादौ 'बन्धोपरमः' बन्धाभावः॥ ४२॥

सम्प्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह—

---

१ त्रिष्वायुष्केषु बद्धेषु येन श्रेणिं न आरोहति॥ २ स० १ त० म० ०योगिकेवलिरू०॥ ३ सं १ त० म० छा० प्रागुक्तप्रम०॥

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसा ।
छाई नव उ अविरए, देसे पचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, इक्को व दुवे व उदयंसा ॥ ४४ ॥
एगं सुहुमसरागो, वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वायु दयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वम् , अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य रति-युगला-ऽरति-शोक-युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्र चतुर्भिः कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां भङ्गाश्चतुर्विंशतिः । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः, अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोरथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गानां चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । सासादने मिश्रे च सप्तादीनि 'नवोत्कर्षाणि' नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सासादने अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्र प्रागिवैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां अष्टोदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सासादने चतस्रश्चतुर्विंशतयः । मिश्रेऽनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं, मिश्रमिति सप्तानां प्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः, अत्र द्वे भङ्गकानां चतुर्विंशती । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतयः ।

"छाई नव उ अविरए" त्ति 'अविरते' अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वायु दयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधा-

दिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति पण्णां प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पट्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्ययाऽविरतसम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः ।

"देसे पंचाइ अट्ठे च" त्ति 'देशे' देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च पट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति पञ्चानां प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति; अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पण्णामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः; अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः ॥४३॥

तथा 'विरते क्षायोपशमिके' प्रमत्ते-ऽप्रमत्ते चेत्यर्थः, विरतो हि श्रेणेरधस्ताद्वर्तमानः क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते । ततश्च प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्रः पञ्च पट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोर्यदि वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः पण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः ।

१ सं० २ यदि वा जु ॥ २ मुद्रि० छा० °नानि भवन्ति, तद्य० ॥

"छच्चऽपुव्वम्मि" अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्रः पञ्च षट् । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां पञ्चानामुदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्ययाऽपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः ।

अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा 'उदयांशौ' उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद इति द्विकोदयः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भेदाः । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः, स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एक इति दश भङ्गाः प्रतिपादिताः तथाप्यत्र सामान्येन चतुः-त्रि-द्वि-एकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते ॥४४॥

"एगं सुहुमसरागो वेएइ" त्ति सूक्ष्मसम्परायो बन्धाभावे एकं किट्टीकृतसंज्वलनलोभं वेदयते, ततोऽत्रैक एव भङ्गः । एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसङ्ख्यया पञ्च । तथा 'शेषाः' उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः ।

"भंगाणं च पमाणं" इत्यादि । अत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गकानां प्रमाणं 'पूर्वोद्दिष्टेन' पूर्वोक्तेन प्राक् [1]सामान्यनिर्दिष्टमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ॥४५॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादीनधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

एक्क छडेक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि ।
एए चउवीसगया, बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥४६॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या । सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशतिः । नवोदये षट्—तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्रः, सासादने मिश्रेऽविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, सासादने मिश्रे च प्रत्येकं द्वे द्वे, देशविरते चैका । सप्तोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका, अविरते देशविरते च प्रत्येकं तिस्र-

१ मुद्रि० ०मान्येनोक्तमोह० । छा० °मान्योक्तमोह° ॥

स्तिस्रः । षडुदये एकादश—तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका, देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः । पञ्चकोदये नव—तत्र देशविरते एका, प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः, अपूर्वकरणे द्वे । चतुरुदये तिस्रः—प्रमत्तेऽप्रमत्तेऽपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका । 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायकाः, एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ । 'द्विके' द्विकोदये भङ्गा द्वादश, एकोदये पञ्च, एते च प्रागेव भाविताः ॥

[1]सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

बारसपणसट्ठसया, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु चतुःपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकानां द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः । ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च सत्यां द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५ भवन्ति । एतैरुदयविकल्पैर्यथा-योगं [2]सर्वे संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता विज्ञेयाः ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

चुल[3]सीईसत्तत्तरिप[4]यविंदसएहिं विन्नेया ॥ ५ ॥

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दानां—दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युप-गमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः, तेषां शतैः सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसङ्ख्यैः ८४७७मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः, एतावत्सङ्ख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ कथं सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ पदानां भवन्ति ? उच्यते— इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः, एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय[5] एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाः षड् नवभिः, अष्टोदया एकादश अष्टभिः, सप्तोदया एकादश सप्तभिः, षडुदया एकादश षड्भिः, पञ्चकोदया नव पञ्चभिः, चतुरुदयास्त्रयश्चतुर्भिः, गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते, जातानि द्विपञ्चाशद-

---

१ "एएसिं उदयविगप्पपयवंदनिरूवणत्थमन्तर्भाष्यगाथा—बारसपणसट्ठसया०" इत्यनेन सप्ततिका-चूर्णिगतावतरणेन गाथेयं चूर्णिकृताऽन्तर्भाष्यगाथातयोपात्ताऽपि टीकाकारैर्नान्तर्भाष्यगाथात्वेनोल्लिखिता, तथाप्यस्माभिश्चूर्णिमनुसृत्यान्तर्भाष्यगाथात्वेनोपस्थापितेयं गाथा॥

२ सं० सं० १ सं० २ °सर्वेसं° ॥ ३ सं० १ °सीइसत्तसत्त° । मो० °सीइसत्तहत्त° ॥ ४ सं० सं० २ °यवंद° ॥ ५ सं० १ त० मो० °दयोऽत्रैक स दश° सं० । २ सं० छा० °दयो दश° ॥

धिकानि त्रीणि शतानि ३५२ । एतानि च चतुर्विंशतिगतानि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि च पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्रक्षिप्तेषु यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदानां शतानि ८४७७ भवन्ति॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्यकृदन्तर्गाथामाह—

अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वंता, बारस पणगं च अनियट्टे ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति। किमुक्तं भवति? -मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासङ्ख्यं अष्टादिसङ्ख्या भवन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ, सासादने चतस्रः, मिश्रे चतस्रः। ''चउरट्ठग'' त्ति अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टावष्टौ। अपूर्वकरणे चतस्रः, एताश्च प्रागेव भाविताः। 'अनिवृत्तौ' अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गाः एकोदये च पञ्च। चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वार एकः सूक्ष्मसम्पराय इति विशेषं द्योतयति ॥४६॥

सम्प्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च योगोपयोगादिभिर्गुणनार्थमुपदेशमाह—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिताः कर्त्तव्याः, तैरुदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः। कतिसङ्ख्यैर्गुणयितव्याः? इत्यत आह--ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकाराः, तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः। तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते--इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु सर्व[3]सङ्ख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि १२६५। तत्र वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगाः सर्वेऽप्यपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु[4] दशसु गुणस्थानकेषु सम्भवन्तीति[5] ते नवभिर्गुण्यन्ते, ततो जातान्येकादश सहस्राणि त्रीणि च शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि ११३८५। तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टापि चतुर्विंशतयः प्राप्यन्ते, वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रः, एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्याः। यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते।

---

१ सं० १ त० म० °थायोग अ° ॥ २ स० स० २ छा० मुद्रि० °ट्ठाणेसु होंति ते त° ॥ ३ स० स० १ स० २ त० °सख्योदय° ॥ ४ स० स० २ °पु गुण° ॥ ५ स० १ स० २ त० म० °ति नवभि° ॥

किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता, विसंयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्धुमारभ्यन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते, न शेषस्य; अनन्तानुबन्धिनश्च विसंयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपन्नने जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावशेषाप्युक्त एव, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात् । तथोक्तम्—

[1]कुणइ जं न सो कालं । इति ।

ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, बन्धावलिकातीतांश्च प्रवेदयते । ततोऽपान्तरालगतौ वर्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथमत उत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । [2]अत्र च कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगौ च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य, ततः कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते । 'वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत एवोत्पद्यमानस्य भवति' इति यदुक्तं तद् बाहुल्यमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा तिर्यङ्-मनुष्याणामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यत एव परं चूर्णिकृता तद् नात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्, एवमुत्तरत्रापि चूर्णिकारमार्गानुसरणं परिभावनीयम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्रः, अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, प्रमत्तसंयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रि[3]यकाययोगेऽष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतयः । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि २०१६, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पाः, तद्यथा—सप्तोदय एकविधः अष्टोदयो द्विविधो नवोदय एकविधः, अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते, वैक्रिय[4]काययोगिषु नपुंसकवेदिषु मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । ये चाविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पा [5]एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पा-

१ करोति यद् न स कालम् ॥ २ स० सं० २ छा० मुद्रि० अत्र च ॥ ३ स० सं० १ सं० २ त० म० °ययो° ॥ ४ स० १ त० म० °यमिश्रका० ॥ ५ स० त० म० °श्रे वर्तमानस्य कार्म° ॥ ६ स० त० म० एतेषु ॥

दाभावात् । एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तम् , अन्यथा कदाचिद् [1]स्त्रीवेदिष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवति । उक्तं च चूर्णौ —

क[2]याइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि । इति ।

प्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च अप्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्याः, आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणो भवति, "आहारं[3] चोद्दसपुव्विणो उ" इति वचनात्; न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमः सम्भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् । तदुक्तम्—

[4]तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीईए ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥ (बृ० कल्प० गा० १४६)

भूतवादो नाम दृष्टिवादः । एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसङ्ख्यया चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लब्धौ, ततः प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि ७०४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथाऽविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे येऽष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेद-नपुंसकवेदसहिताः, तिर्यग्-मनुष्येषु-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् ; एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम् , तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः । एतेषु चैकेन वेदेन प्रत्येकमष्टावष्टावेव भङ्गा लभ्यन्ते, ततोऽष्टौ अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताश्चतुःषष्टिः ६४, सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतानि चतुर्दश सहस्राणि शतं चैकोनसप्तत्यधिकम् १४१६९ । एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादि[5]षु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा योगगुणिताः प्राप्यन्ते । तदुक्तम्—

[6]चउदस य सहस्साइं, सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं १४१६९ ।

सम्प्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते । तत्रोदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

[7]अट्ठट्ठी बत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयालं चोयालं, वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥

---

१ स० १ त० म० छा० ०स्त्रीवेदेष्व० ॥ २ कदाचिद् भवेत् स्त्रीवेदकेष्वपि ॥ ३ आहारकं चतुर्दशपूर्विणस्तु ॥ ४ तुच्छा गौरवबहुला चलेन्द्रिया दुर्बलाश्च धृत्या । इत्यतिशेषाध्ययना भूतवादश्च नो स्त्रीणाम् ॥ ५ मुद्रि० ०षु अपूर्वकरणप्र० ॥ ६ चतुर्दश च सहस्राणि शतं च एकोनसप्ततमुदयमानम् ॥ ७ गाथेयं वृत्तिकृद्भिरन्तर्भाष्यगाथात्वेनोल्लिखिताऽपि चूर्णिकृद्भिर्नान्तर्भाष्यगाथात्वेन निर्दिष्टा ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथासङ्ख्यमष्टषष्ट्यादिसङ्ख्यानि उदयपदानि भवन्ति, तथाहि–मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्टौ नव दश । तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते–जाता दश; नवोदयास्त्रयो नवभिः-जाता सप्तविंशतिः, अष्टोदयास्त्रयोऽष्टभिः, जाता चतुर्विंशतिः, सप्तोदयश्चैकः सप्तभिः, जाताः सप्त, सर्वसङ्ख्यया अष्टषष्टिः ६८ । एवं द्वात्रिंशदादीनामपि उदयपदानां भावना कर्तव्या । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२ । एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते. जातानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४४८ । द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता चतुर्विंशतिः, एकोदयपदानि पञ्च. सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशत् । सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ । एतानि वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ७६२९३ । ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसङ्ख्यानि उदयपदानि. एतानि च प्राग्वद् भावनीयानि । वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदुदयपदानि । वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते, न शेषाणि, कारणं प्रागेवोक्तम्, ततः षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदेव भवन्ति । तथाहि–एकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहितः प्राप्यते । ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्गुण्यते, तत्राष्टौ पदानि सन्तीति कृत्वा, ततो जाता अष्टौ, नवोदयौ द्वौ नवभिः, जाता अष्टादश, दशोदय एको दशभिः, जाता दश, सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत् । एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्तव्या । सासादनस्य वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत् । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत । अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टिः ६० । देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं द्विपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् । प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत् । अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् । सर्वसङ्ख्यया षट् शतानि ६०० । एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारि शतानि १४४०० । एतानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि, एतेषु नपुंसकवेदो न लभ्यते, युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षष्टिः षष्टिः, अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते, कारणं प्रागेवोक्तम् । प्रमत्तसंयतस्य आहारके आहारकमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत् । अप्रमत्तसंयतस्याहारक-

---

१ सं० १ त० म० छा० °बन्ध्युदयस° ॥ २ सं० १ त० म० छा० °क्रिये वैक्रियमि° ॥

काययोगे चतुश्चत्वारिंशत्, अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते, [1]युक्तिः प्रागेवोक्ता। सर्वसङ्ख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके २८४। एतानि चोक्तप्रकारेण [2]द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेदसम्भवैः षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि ४५४४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि। एतानि पुरुषवेदे एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्, तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते-जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि ४८०। एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातः पूर्वराशिः पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि ९५७१७। एतावन्ति योगगुणितानि पदवृन्दानि। उक्तं च—

[3]सत्तरसा सत्त सया, पणनउइसहस्स पयसंखा। ९५७१७

सम्प्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्यज्ञान श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुः-अचक्षुर्दर्शनरूपाः पञ्च पञ्च उपयोगाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतानां मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट् प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसम्परायान्तानां त एव षड् मनःपर्यवज्ञानसहिताः सप्त[4] मिथ्यादृष्ट्यादिषु च चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पाः "अट्ठग चउ चउ चउट्ठगा य" (अन्तर्भाष्यगा० ६) इत्यादिना ये प्राग् उक्तास्ते यथा योगमुपयोगैर्गुण्यन्ते, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने चत्वारः मिलिता द्वादश, ते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः ६०। मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पाः, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, देशविरतस्याप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया विंशतिः, सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशं शतम् १२०। तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पाः, अप्रमत्तस्याप्यष्टौ, अपूर्वकरणस्य चत्वारः, सर्वे मिलिता विंशतिः, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशं शतम् १४०। सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि विंशानि ३२०। ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शना-अचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगान् इच्छन्ति तेषां [5]मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि ३१६। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट्सप्ततिशतानि ७६८० मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७५८४। ततो द्विकोदय[6]भङ्गा द्वादश, एकोदयभङ्गाः पञ्च, सर्वे मिलिताः सप्तदश, ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशं शतम् ११९। तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततः पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि ७७९९, मतान्तरेण सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि ७७०३। उक्तं च—

---

१ छा० मुद्रि० युक्तिरत्र प्रा० ॥ २ सं० १ त० म० द्विविधवेद० ॥ ३ सप्तदश सप्त शतानि पञ्चनवतिसहस्राणि पदसंख्या ॥ ४ सं० सं० २ त० छा० °प्त सप्त। मि° ॥ ५ सं० १ त० म० मते त्री° ॥ ६ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम् २४००॥

[1]उदयाणुवओगेसु सगसयरिसया तिउत्तरा होंति । ७७०३

एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गाः ।

सम्प्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसं" (अन्तर्भाष्यगा०७)इत्यादिना यानि प्राग् उक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते । तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि, सासादनस्य द्वात्रिंशत्, मिलितानि शतम् १००, तत् पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि ५०० । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टेः षष्टिः, देशविरतस्य द्विपञ्चाशत्, सर्वमीलने चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, एतत् षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते-जातान्यष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ८६४ । प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अपूर्वकरणस्य विंशतिः, सर्वसङ्ख्यया अष्टाधिकं शतम् १०८, एतत् सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते-जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि ७५६ । सर्वसङ्ख्यया विंशान्येकविंशतिशतानि २१२० । ये तु मिथ्यादृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगान् इच्छन्ति त[2]न्मतेन सर्वसङ्ख्यया विंशतिशतान्यष्टाशीत्यधिकानि २०८८ । एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि पञ्चाशत् सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि ५०८८० , मतान्तरेण पञ्चाशत् सहस्राणि द्वादशोत्तरशताधिकानि ५०११२ । ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिः, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वमिलने एकोनत्रिंशत्, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते त्र्युत्तरे द्वे शते २०३ । ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, ततो जातः पूर्वराशिरेकपञ्चाशत् सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि ५१०८३, मतान्तरेण पुनः पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ५०३१५ । उक्तं च—

[3]पन्नासं च सहस्सा, तिन्नि सया चेव प[4]न्नारा । ५०३१५

एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि ।

सम्प्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् षड् लेश्याः, देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तेषु तेजः-पद्म-शुक्लरूपास्तिस्रस्तिस्रः, कृष्णादिलेश्यासु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात् । अपूर्वकरणादौ एका शुक्ललेश्या । मिथ्यादृष्ट्यादिषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्ट-चतुरादिसङ्ख्यास्ते यथायोगं लेश्याभिर्गुण्यन्ते । तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पाः, सासादनस्य चत्वारः, सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वारः, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, मीलिताश्चतुर्विंशतिः, सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते, जातं चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । तथा देशविरतस्याष्टौ, प्रमत्तस्याष्टौ अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः,

---

१ उदयानामुपयोगेषु सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि भवन्ति ॥ २ सं० १ त० म० °मते सर्व° ॥ ३ पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रीणि शतानि चैव पञ्चदश ॥ ४ त० म० पन्नरसा ॥

सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्ततिः ७२। अपूर्वकरणे चतस्रः, [1]अत्रैकैव लेश्या, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वार एव। सर्वमिलिता द्वे शते विंशत्यधिके २२०। एते चतुर्विंशतिगते इति चतुर्विंशत्या गुण्येते, जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२८०। ततो द्विकोदया द्वादश, एकोदयाः पञ्च, मिलिताः सप्तदश। ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२९७। एतावन्तो लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः।

सम्प्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टिः, सासादने द्वात्रिंशत्, मिश्रे ऽपि द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टिः, सर्वसङ्ख्यया द्विनवत्यधिकं शतम् १९२, एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। तथा देशविर[2]ते द्विपञ्चाशत्, प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत्, सर्वे मीलिताश्चत्वारिंशं शतम् १४०, तच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातानि विंशानि चत्वारि शतानि ४२०। अपूर्वकरणे विंशतिः, सा ए[3]कया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति। ततः सर्वसङ्ख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि १५९२। एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टात्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके ३८२०८। ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्यष्टात्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके ३८२३७। एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि। उक्तं च—

[4]तिगहीणा तेवन्ना, सया य उदयाण होंति लेसाणं ५२९७।
अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा ३८२३७॥ ॥ ४७॥

तदेवमुक्तानि सप्रपञ्चमुदयस्थानानि। साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—

तिण्णेगे एगेगं, तिग मीसे पंच चउसु [5] नियट्टिए तिन्नि।
एकार बायरम्मी, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥ ४८॥

'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः। अत्र भावना प्रागेवोक्ता। तथा 'एकस्मिन्' सासादने एकं सत्तास्थानम्, तद्यथा-अष्टाविंशतिः। मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तथा 'चतुर्षु' अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा-

---

१ स० १ त० म० अत्र चैके०॥ २ स० १ सं० २ त० म० °रतौ द्वि°॥ ३ स० सं० २ °कले°॥
४ त्रिकहीनानि त्रिपञ्चाशत् शतानि च उदयानां भवन्ति लेश्यानाम्। अष्टात्रिंशत् सहस्राणि पदानां शते द्वे च सप्तत्रिंशे॥ ५ म० °सु तिगऽपुव्वे। एष एव पाठः समीचीनो भाति, परं विवृतिकृद्भिः "नियट्टिए तिन्नि" इति पाठमनुसृत्य विवृतत्वादस्माभिर्मूले एष एवादृत॥

अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । 'निवृत्तौ, अपूर्वकरणे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्याम्, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा । "एक्कार बायरम्मि" त्ति 'बादरे' अनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेः, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत् कषायाष्टकं न क्षीयते, कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश, नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः, संज्वलनमाने क्षीणे द्वे, ततः संज्वलनमायायां क्षीणायां एकेति । "सुहुमे चउ" त्ति सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्याम्, एका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् । 'उपशान्ते' उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः, चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च ॥

सम्प्रति संवेध उच्यते–तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिबन्धस्थानं, चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा––सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम् । अष्टादिषु तूदयस्थानेषु त्रिषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा––अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया दश । सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्, तद्यथा–अष्टाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि । सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश, चत्वार्युदयस्थानानि; तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च, सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च अष्टोदये । नवोदये चत्वारि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । देशविरते त्रयोदश बन्धस्थानं चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा— पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः । एतान्येव पञ्च सप्तोदये अष्टोदये एकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । प्रमत्तसंयते बन्धस्थानं नव, चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा–चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र चतुरुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–

अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च षड्डुदये । सप्तोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । एवमप्रमत्तेऽपि बन्ध उदय-सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्यः । अपूर्वकरणे बन्धस्थानं नव त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च । पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश । चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारि । त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चत्वारि त्रीणि च । द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रीणि द्वे च । एकविधे बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एकं च । सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतिः । बन्धाभावे सूक्ष्मसम्पराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकं च । उपशान्तमोहे बन्ध उदयो न स्तः, सत्तास्थानानि, पुनस्त्रीणि तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । सर्वत्रापि च सत्तास्थाने भावना [1]यथा अधस्तादोघसंवेधचिन्तायां कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या ॥४८॥

तदेवं चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयम् । सम्प्रति नाम चिचिन्तयिषुराह—

छण्णव छक्कं तिग सत्त दुग दुग तिग दुग तिगऽट्ठ चऊ ।
दुग छ चउ दुग पण चउ, चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाण ।
एग चऊ एग चऊ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५०॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्नः षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रयोविंशतिः, तस्यां च बध्यमानायां बादर-सूक्ष्म-प्रत्येक-साधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यमपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यं च बध्नतः पञ्चविंशतिः । तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानायां भङ्गा विंशतिः, अपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रा-

१ स० छा० मुद्रि० °था प्रागध° ॥

योग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः। पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः षड्विंशतिः, तस्यां च बध्यमानायां भङ्गाः षोडश। देवगतिप्रायोग्यं नरकगतिप्रायोग्यं वा बध्नतोऽष्टाविंशतिः। तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गाः, नरकगतिप्रायोग्यायां त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया नव। पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्। तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां षट्चत्वारिंशच्छतान्यष्टाधिकानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यायामप्येतावन्त एव भङ्गाः ४६०८, सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४०। या तु देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात्। पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रिंशत्। तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्याणां त्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६३२। या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत्, या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता, ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायातः, तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, आहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात्। उक्तं च—

[२]सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं। इति।

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

[३]चउ पणवीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउया।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥८॥ सुगमा ॥

तथा मिथ्यादृष्टेर्नव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि, केवलमाहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां केवलिनां च सम्बन्धीनि न वक्तव्यानि, तेषां मिथ्यादृष्टित्वाभावात्। सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्ट्याद्युदयस्थानभङ्गाः सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३। तथाहि—एकविंशत्यु[४]दये एकचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च, विकलेन्द्रियाणां नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नव, मनुष्याणां नव, देवानामष्टौ, नारकाणामेकः। तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश, ते चैकेन्द्रियाणा-

---

१ इत ऊर्ध्वम्—छा० ग्रन्थाग्रम्—२५७३ ॥ २ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेन आहारम् ॥ ३ २४९ पृष्ठगता ७ संख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥ ४ स०, त० म० °दये वर्तमानस्य° ए°॥

मेव, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ, नारकाणामेकः । षड्विंशत्युदये षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियाणां त्रयोदश, विकलेन्द्रियाणां नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ नारकाणामेकः । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि ११९९—तत्र विकलेन्द्रियाणां षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश, मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेकः । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि १७८१-तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश, मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेकः । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि २९१४ तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ११६४—तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ ।

मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । तत्र द्विनवतिः चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् तीर्थकरनाम बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यमानस्तदा तस्यैकोननवतिरन्तमुहूर्तं कालं यावत् लभ्यते, उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तमुहूर्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम् । षडशीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषु यथायोगं देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्येते, एकेन्द्रियभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्ध्वमप्यन्तमुहूर्तं कालं यावद् लभ्यते, परतोऽवश्यं वैक्रियशरीरादिबन्धसम्भवाद् न

१ सं० १ त० म० °कलानां न° ॥ २ सं० १ त० म० °हूर्तका° ॥ ३ सं० १ त० म० °शीतिरेकेन्द्रि° ॥ ४ म० १ त० म० छा० °ते । अशीतिस्तु त्रिनवतेस्तीर्थकराहारकचतुष्टयादिषु त्रयोदशसु प्रकृतिषु उद्वलितासु लभ्यते एके° ॥ ५ सं० १ त० म० °हूर्तका° ॥

लभ्यते। अष्टसप्ततिस्तेजो-वायूनां मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते। तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्तं[1] कालं यावद् परतोऽवश्यं मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसम्भवात्।

तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। सम्प्रति संवेध उच्यते-तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नतः प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि सम्भवन्ति। केवलमेकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति--एकोनत्रिंशद्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु देव-नैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते न सम्भवन्ति। त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या, न च देवा अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन्ति, तेषां तत्रोत्पादाभावात्; नापि नैरयिकाः, तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासम्भवात्, ततोऽत्र देव-नैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते। सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। तत्रैकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि। नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजो-वायुकायिकानधिकृत्याष्टसप्ततिः प्राप्यते, षड्विंशत्युदये तेजो-वायुकायिकान् तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् वाऽधिकृत्य[2] प्राप्यते सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशद्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सर्वसङ्ख्यया सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम्, केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्तमानः पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेयम्। नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेयाः न शेषाः, सूक्ष्म-साधारणा-ऽपर्याप्तकेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात्। सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या। सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य, एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव। अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः। तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि; तत्राप्येकोननवतिर्यो नाम वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमधिकृत्य वेदितव्या, शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्-मनुष्याणाम्। एकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि, एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता, न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु

---

१ सं० १ त० म० ०हूर्तंका० । २ स० स २ छा० ०त्य। सप्त०॥

सम्भवति । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेकोनत्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्राक्तनानि उदयस्थानानि षट् च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते; तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज-एकेन्द्रियानधिकृत्य[1], अष्टसप्ततिरेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य । चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये षडपि सत्तास्थानानि, तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि । षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि प्रागिव भावनीयानि; एकोननवतिस्तु न लभ्यते, यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य, न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः सम्भवति । सप्तविंशत्युदयेऽष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि-तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्य, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, यतः सप्तविंशत्युदयस्तेजो-वायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरसहितानां भवति, नारकादीनां वा, न च तेषामष्टसप्ततिः, तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि—तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय[2]-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि । त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः । एतानि विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकोननवतिस्तु न प्राप्यते, यतः सा[3] वेदकसम्यग्दृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते, न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति । एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि, तानि च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्य-देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः

१ छा० मुद्रि० ०त्य वेदितव्या, अष्ट० ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० म० ग्रन्थाग्रम् २६२० ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० छा० सा मिथ्यादृष्टे० स० ॥

सामान्येन प्रागुक्तानि नवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । एकोननवतिस्तु न सम्भवति, एकोननवतिसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धारम्भासम्भवात् । तानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु प्रागिव भावनीयानि । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु च पञ्चसु उदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि भावनीयानि, अष्टसप्ततिप्रतिषेधे कारणं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रिंशतं बध्नतश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । मनुजगति-देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशद् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारक[2]-तीर्थकरनामसहिता, ततः सा कथं मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति[3] ? ।

तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधः । सम्प्रति सासादनस्य बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"तिग सत्त दुगं" ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्विधा—देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति, देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाश्चतुःषष्टिशतानि ६४००, तथाहि—सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याम् अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्याम् एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थान सेवार्तं च संहननं बध्नन्ति, मिथ्यात्वोदयाभावात्; ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्याम् आदेया ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति अयशःकीर्तिभ्यां च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, ततः सर्वसङ्ख्यया चतुःषष्टिशतानि ६४०० भवन्ति । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम् । तां च बध्नतां प्रागिव भङ्गकानां द्वात्रिंशच्छतानि ३२०० । सर्वबन्धस्थानभङ्गसङ्ख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ९६०८ ।

उक्तरूपभङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

---

१ म० छा० मुद्रि० ०षाणि प्रत्येकं चत्वा० ॥ २ सं १ सं० २ त० म० ०कद्विकनामस० ॥ ३ मुद्रि० ०याति ? इति ॥ ४ मुद्रि० ०न्ति; तथास्वाभाव्यात्; त० ॥

[1]अट्ठ य सय [2]चोवट्ठिं, बत्तीस सया य सा[3]सणे भेया।
अट्ठावीसाईसु, सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ ९ ॥ सुगमा ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदय एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः। नरकेषु सासादनो नोत्पद्यत इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते। तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः, न शेषाः, सूक्ष्मेषु अपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्। अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स इह न सम्भवति, किन्तु शेषा एव। ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वौ इति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामप्यष्टौ, देवानामप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशत्। चतुर्विंशत्युदय एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य, अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः, न शेषाः, सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजो-वायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासम्भवात्। पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य प्राप्यते न शेषस्य, तत्र चाष्टौ भङ्गाः, ते[4] च स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः। षड्विंशत्युदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमा[5]त्रस्यावसेयः, अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स न सम्भवति, अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्, शेषास्तु सम्भवन्ति। ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वौ द्वाविति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि द्व्यशीत्यधिकानि ५८२। सप्तविंशति-अष्टाविंशत्युदयौ न सम्भवतः, तौ हि उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सति भवतः, सासादन[6]भावश्चोत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षतः किञ्चिदूनषडावलिकामात्रं का[7]लं भवति, तत एतौ सासादनस्य [8]न प्राप्येते। एकोनत्रिंशदुदयो देव नैरयिकाणां स्वस्थानगतानां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां प्राप्यते। तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गा अष्टौ, नैरयिकस्यैक इति, सर्वसङ्ख्यया नव। त्रिंशदुदयस्तिर्यग्-मनुष्याणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां देवानां वा उत्तरवैक्रिये वर्तमानानां सासादनानाम्। तत्र तिरश्चां मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येकं द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, देवस्याष्टौ, सर्व-

---

१ अत्र २४६ पृष्ठगता ७ संख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥ २ मुद्रि० चोसट्ठिं। छा० चउसट्ठिं। म० चउसट्ठी ॥ ३ छा० मुद्रि० ०सणे भणि० ॥ ४ स० १ त० म० च सुभग दुर्भगा-ऽऽदेयाना-ऽनादेय यश० ॥ ५ स० २ ०त्रस्य, अत्राप्य० ॥ ६ स ०स० २ ०नश्चोत्प० ॥ ७ सं० स०२ ०लम्, तत.॥ ८ म० मुद्रि० न सम्भवत.। एको० ॥

सङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि २३१२। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम्। अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२।

उक्तरूपाया एव भङ्गसङ्ख्याया निरूपणार्थमियमन्तरभाष्यगाथा—

[1]बत्तीस दोन्नि अट्ठ य, बासीयसया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा, बावन्नेक्कारस सया य ॥ १० ॥

सुगमा ॥

सर्वभङ्गसङ्ख्या सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि ४०९७।

सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टयं बद्ध्वा उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते, न शेषस्य। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत्। अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भ[2]वति देवगतिविषया, न च करणापर्याप्तः सासादनो देवगतिप्रायोग्यं बध्नाति, ततः शेषा उदया न सम्भवन्ति। [3]तत्र मनुष्यमधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव, यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते, न च तिरश्चामुपशमश्रेणिसम्भवः। एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव, यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। न च तिरश्चां द्विनवतिः सम्भवति, प्रागुक्तयुक्तेः। एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि। तत्र एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेकमेव सत्तास्थानम्—अष्टाशीतिः। नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः। एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यम्। सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसङ्ख्यया सासादनस्याष्टौ सत्तास्थानानि।

सम्प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्ध उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"दुग तिग दुगं"ति द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र तिर्यग् मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति, ततस्तेषामष्टाविंशतिः, तत्र भङ्गा अष्टौ। एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतां देव-नैरयिकाणाम्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। ते चोभयत्रापि स्थिरा-ऽस्थिर-शुभाऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः। शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति, ततः शेषभङ्गा न प्राप्यन्ते।

---

१ अत्र २४६ पृष्ठगता ७ सङ्ख्याका टिप्पणी द्रष्टव्या ॥ २ सं० १ त० ०वतीति दे० ॥ ३ छा० मुद्रि० अत्र मनुष्यानधि० ॥

त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः, नैरयिकानधिकृत्यैकः, सर्वसङ्ख्यया नव । त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य[1] सर्वपर्याप्तिपर्याप्तियोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, मनुष्यानधिकृत्य[2] एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि २३०४ । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६५ ।

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा–द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्–एकोनत्रिंशत् । अत्रापि ते एव द्वे सत्तास्थाने । तदेवमेकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसङ्ख्यया षट् ।

सम्प्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते–"तिगऽट्ठ चउ" त्ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र तिर्यङ्-मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामष्टाविंशतिः, अत्राष्टौ भङ्गाः । अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यङ्-मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते । मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः ।

अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा–एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदयो नैरयिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य सम्भवात् । अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तकेषु मध्ये नोत्पद्यते, ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषभङ्गाः सर्वेऽपि वेदितव्याः । ते च पञ्चविंशतिः–तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्याष्टौ, देवान-

---

१ सं० १ त० ०त्य भङ्गा द्विपञ्चा० । मु० मुद्रि० ०त्य अष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७२८, मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिशतानि अशीत्यधिकानि २८८० । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । सर्वोदयस्थानभङ्गसख्या चत्वारिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि ४०४१ । द्वे सत्तास्थाने ॥
२ सं० १ त० ०त्य भङ्गा एका० ॥ ३ मु० छा० ०षा भ० ॥

प्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैकः । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देव-नैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यांश्चाधिकृत्याऽसेयौ । तत्र नैरयिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि । उक्तं च चूर्णौ—

'पणवीस-सत्तवीसोदया देव-नेरइए विउव्वियतिरिय-मणुए य पडुच्च,
नेरइगो खइग-वेयगसम्मद्दिट्ठी, देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी त्ति । इति ।

भङ्गा अत्र सर्वेऽप्यात्मीया आत्मीया द्रष्टव्याः । षड्विंशत्युदयः तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टीनाम् । औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यङ् मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यत इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तम् । वेदकसम्यग्दृष्टिता च तिरश्चो द्वाविंशतिसत्कर्मणो वेदितव्या । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवानाम् । त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानाम् । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम् । भङ्गा आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टि-देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः । यस्त्वाहारकं बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिः । देव-मनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते । एकोननवतिर्देव-नैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्, ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनाम समर्जयन्ति । तिर्यक्षु तीर्थकरनामसत्कर्मा नोत्पद्यत इति तिर्यङ् न गृहीतः । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम् ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि, तानि तिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य । तत्रापि पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने, द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्, द्विधा—देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता, तां च मनुष्या एव बध्नन्ति । तेषां चोदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । मनुष्याणामेकत्रिंशन्न सम्भवति । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । मनुष्यगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नन्ति देव-नैरयिकाः । तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । देवानां पञ्च तावदेतान्येव,

१ पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यांश्च प्रतीत्य नैरयिकः क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टिः, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ २ स० मुद्रि० ०त्वमितुग० ॥

षष्ठं तु त्रिंशत्, सा चोद्योतवेद[1]कानां देवानामवगन्तव्या। एकैक[2]स्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति। तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येव। तेषु[3] उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिरेव, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तदेवं सामान्येनैकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषूदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। एकत्रिंशदुदये द्वे—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत्।

सम्प्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"दुग छ चउ" ति देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या, तत्राष्टौ भङ्गाः। सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत्, सा च मनुष्यस्यैव, तिर[4]श्चस्तीर्थकरसत्कर्म-बन्धाभावात्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः।

षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्राद्यानि चत्वारि वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम्। अत्र मनुष्याणामेकैक एव भङ्गः, तिरश्चामाद्ययोरेकैकोऽन्तिमयोस्तु द्वौ द्वौ, सर्वपदानां प्रशस्तत्वात्। त्रिंशत् स्वभाव[5]स्थानां तिर्यङ्-मनुष्याणाम्, प्रत्येकमत्र भङ्गकानां चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, तच्च षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुस्वर-दुःस्वराभ्यां प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते। दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते[6]। वैक्रियतिरश्चां एको भङ्गः—एकत्रिंशत्। तिरश्चामत्रापि त एव भङ्गाः[7] १४४। सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४४३।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारकं बद्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जातः तस्य त्रिनवतिः। शेषाणां भावनाऽविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्तव्या।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतेषु च प्रत्येकं

१ सं० सं० १ स २ त० ०कानामव० ॥ २ सं० १ सं० २ त० म० छा० ०स्मिन् द्वे द्वे ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० ०षु प्रत्ये० ॥ ४ सत्कर्म च बन्धश्च सत्कर्म-बन्धौ, तीर्थकरस्य सत्कर्मबन्धौ तीर्थकरसत्कर्म-बन्धौ, तयोरभावस्तीर्थकरसत्कर्म बन्धाभावस्तस्मादिति विग्रहः ॥ ५ छा० मुद्रि० ०स्थानामपि तिर्य० ॥ ६ सं० सं० २ ०न्ते। वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको म० । छा० ०न्ते। तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको म० ॥ ७ सं० छा० मुद्रि० ०ङ्गाः १४४। चत्वारि सत्ता० ॥

द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं तिरश्चोऽपि, नवरं तस्यैकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्यः, तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने । एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य, तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च, तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा---त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिः २२ ।

सम्प्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते---"दुग पण चउ" त्ति प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा--अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एते च देशविरतस्येव भावनीये ।

पञ्चोदयस्थानानि, तद्यथा--पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वा वेदितव्यानि । त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि । तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पृथक् पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययोः प्रत्येकमेकैको भङ्गः ४, अष्टाविंशतावेकोनत्रिंशति च द्वौ द्वौ ८, त्रिंशति चैकैकः २ । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश १४ । त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते । तत्र चतुश्चत्वारिंशं शतं भङ्गानाम् १४४, तच्च देशविरतस्येव भावनीयम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टपञ्चाशदधिकं शतम् १५८ ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव, आहारकसत्कर्मा ह्याहारकशरीरमुत्पादयतीति तस्य द्विनवतिरेव । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि । तीर्थकरनामसत्कर्मा चाष्टाविंशतिं न बध्नातीति त्रिनवतिरेकोननवतिश्च न प्राप्यते । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव, तस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकरा ऽऽहारकसद्भावात् । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि । तदेवं प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्त इति । सर्वसङ्ख्यया विंशतिः २० ।

इदानीमप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"चउ दुग चउ" त्ति अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंयतस्येव भावनीये । सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत् । आहारकद्विक-तीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् । एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्यः, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनामप्रमत्तसंयते बन्धाभावात् ।

---

१ सं० मुद्रि० ०यति ततस्तस्य ॥ २ सं० अपि सत्तास्थाने । त्री० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा-एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ--एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य। एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ। स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्त-संयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-अष्टाशीतिः। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-एकोननवतिः। त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-द्विनवतिः। एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-त्रिनवतिः। यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम्। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते-"पणगेग चउ" त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्ध-स्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च। तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि। एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या।

एकमुदयस्थानम्-त्रिंशत्। अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते-आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः। एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम्।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च। एकविधबन्धकस्य त्रिंश-दुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम्? इति चेद् उच्यते-इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टा-विंशत्यादिबन्धकाना च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

१सं० १ त० म० ०तरसं० ॥२ सं छा० ०पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति अनिवृत्तिबादरस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः। एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्। अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावद् नामत्रयोदशकं न क्षीयते। त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं त्रिनवत्यादेः क्षीणेषूपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। बन्ध-उदय-स्थानभेदाभावादत्र संवेधो न सम्भवतीति नाभिधीयते।

सूक्ष्मसम्परायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति सूक्ष्मसम्परायस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः। एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्। अष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि। तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम्।

"छउमत्थकेवलिजिणाण" इत्यादि। छद्मस्थजिनाः—उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च, केवलिजिनाः—सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च, तेषां यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि—"एक चऊ" इत्यादीनि। तत्रोपशान्तमोहस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

क्षीणकषायस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्। अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव, वज्रर्षभनाराचसंहनननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसम्भवात्। तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मणः क्षीणमोहस्य सर्वं संस्थानादि प्रशस्तमित्येक एव भङ्गः।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। एकोनाशीति-पञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये। अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मणः।

सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा- विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं विवृतानीति न भूयो विव्रियन्ते।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः।

सम्प्रति संवेध उच्यते—स च जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथाऽत्रापि भावयितव्यः।

अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—नव अष्टौ च। तत्राष्टोदयोऽतीर्थकरायोगिकेवलिनः, नवोदयस्तीर्थकरायोगिकेवलिनः।

षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च।

१ सं १ त० म० ०ने वेदितव्ये, तद्य० ॥ २ स०सं० २ मुद्रि० च। तत्राष्टो० ॥

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च। तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत् प्राप्येते, चरमसमयेऽष्टौ। नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च। तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये नव ॥ ५० ॥

तदेवं गुणस्थानकेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। साम्प्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु तानि चिचिन्तयिषुः प्रथमतो गतिषु तावत् चिन्तयन्नाह—

दो छक्कऽट्ठ चउक्कं, पण नव एक्कार छक्कगं उदया।
नेरइआइसु संता,[1] ति पच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

नैरयिक तिर्यग्-मनुष्य-देवानां यथाक्रमं द्वे षड् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि। तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या च वेदितव्या। त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता, मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता। भङ्गाश्च[2] प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः।

तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकरा-ऽऽहारकसहिता सा न वक्तव्या, तिरश्चां तीर्थकरा-ऽऽहारकबन्धासम्भवात्।

मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च। एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात्।

देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। अत्र पञ्चविंशतिः षड्विं[3]शतिश्च पर्याप्त-बादर-प्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्या। अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः। षड्विंशतिः आतप-उद्योतान्यतरसहिता भवति, ततोऽत्र भङ्गाः षोडश। एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया। त्रिंशत् पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्यभेदोपेता ४६०८ प्रागिव[4] वक्तव्या। या तु मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः।

---

१ स० सं० १ स० २ त० छा० ०आई संता, ॥ २ छा० मुद्रि० ०श्च सर्वत्रापि प्रागु० ॥ ३ स० १ त० स० ०शतिः पर्या० ॥ ४ मुद्रि० ०व सप्रभेदा वक्त० ॥

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधीयन्ते--"पण नव एक्कार छक्कगं उदया" । नैरयिकाणां पञ्च' 'उदयाः' उदयस्थानानि, तद्यथा- एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

तिरश्चां नव उदयस्थानानि, तद्यथा--एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत । एतानि एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सवैक्रिया-ऽवैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि, तद्यथा- विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एतानि च स्वभावस्थमनुष्य-वैक्रियमनुष्या-ऽऽहारकसंयत-तीर्थं करा-ऽतीर्थकरसयोगि-अयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य प्राग्वद् भावनीयानि ।

देवानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तानि, न भूय उच्यन्ते ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते--"संता ति पंच एक्कारस चउक्कं" । नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि, तद्यथा -द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषूत्पद्यमानस्यावसेया । त्रिनवतिस्तु न सम्भवति, तीर्थकरा ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तीर्थकरसम्बन्धीनि क्षपकसम्बन्धीनि च सत्तास्थानानि न सम्भवन्ति, तीर्थकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्ष्वभावात् ।

मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा- त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसम्भवात् ।

देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा- त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः । शेषाणि तु न सम्भवन्ति, शेषाणि हि कानिचिद् एकेन्द्रियसम्बन्धीनि कानिचित् क्षपकसम्बन्धीनि, ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति ? ।

सम्प्रति संवेध उच्यते--नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टा-

१ सं० १ त० म० ०ञ्च उदयस्थाना० ॥ २ सं० १ त० म० ०करसयो० ॥

शीतिः । तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवाद् एकोननवतिर्न लभ्यते । मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावद् मिथ्यादृष्टिस्तावद् एकोनत्रिंशतं बध्नाति, सम्यक्त्वं तु प्रतिपन्नस्त्रिंशतम् , तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात् । तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्--एकोननवतिः । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्था[1]नानि चत्वारिंशत् ।

सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते—त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि नव उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्षु एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । इहाष्टसप्ततिस्तेजो-वायून् तद्भवादुद्वृत्तान् वाऽधिकृत्य वेदितव्या । शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियम[2]तो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां ब[3]ध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ, तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । त्रिंशद् एकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृष्टीनामवगन्तव्या । सम्यग्दृष्टीनां तु न सम्भवति, तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसम्भवात् । तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके २१८, तथाहि—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् , अष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश ।

---

१ सं० २ छा० मुद्रि० °नानि त्रिंशत् ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम्-२६३० ॥ ३ सं० १ त० म० °ध्नतां° ॥

सम्प्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्योदयाः सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, शेषाः[1] केवल्युदया इति न सम्भवन्ति[2] । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ । एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिश्च । नवरं पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च; शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकर-क्षपकश्रेणि-के[3]वलि शेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति; सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम् । मनुजगतिप्रायोग्यां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्त उदयाः, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकविंशति-षड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणापर्याप्तस्य । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियस्याहारकसंयतस्य वा । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशतौ अविरतसम्य[4]ग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां च । त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । आहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव । त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकोननवतिर्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया । सर्वसङ्ख्यया ऽष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां बध्नतः सप्त उदयस्थानानि, तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि । न[5]वरं त्रिंशदुदयः सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्यः, यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनामसहितः, तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति । सर्वेष्वपि चोदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश । आहारकसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र यो नामाऽऽहारकसंयतो[6]ऽन्तिमकालेऽप्रमत्तत्वं [7]प्रति एकोनत्रिंशद् वेदितव्या, [8]अन्यत्रैकोनत्रिंशति आहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्यासम्भवात् । द्वयोरप्युदयस्थानयोः प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्—द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; एकं सत्तास्थानम्—त्रिनवतिः । एकविधबन्धकस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः

१ मुद्रि० °षा. संयतोद° ॥ २ सं० छा० मुद्रि० °न्ति । अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च° ॥ ३ छा० मुद्रि० °वलिसम्बन्धीनि शेष तिप्रायोग्याणि चेति कृत्वा न ॥ ४ छा० मुद्रि० °ग्दृष्टिवैक्रियाहारकसंयतानाम् । त्रि० ॥ ५ छा० मुद्रि० °वरमिह त्रि० ॥ ६ आहारकमोक्षकाले इत्यर्थः ॥ ७ छा० सं० मुद्रि० प्रतीत्यैको० ॥ ८ अप्रमत्तं विहायेत्यर्थः ॥ ९ सं० १ त० म० छा० °स्याभावा० ॥

एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि शतमेकोनषष्ट्यधिकम् १५९, तद्यथा—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु प्रत्येकं चतुर्विंशश्चतुर्विंशतिः, अष्टाविंशतिबन्धे षोडश, मनुज-तिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धे (त्रिंशति च)प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः, देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश, एकत्रिंशद्बन्धे एकम् , एकप्रकृतिबन्धेऽष्टाविति । बन्धाभावे उदयस्थान-सत्तास्थानयोः परस्परसंवेधः सामान्यतः संवेधचिन्तायामिव वेदितव्यः ।

सम्प्रति देवानां संवेध उच्यते—तत्र देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां षट्स्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । एवं षड्विंशति-एकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वेदितव्यम् । उद्योतसहितां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव । तीर्थकरसहितां पुनस्त्रिंशतमर्थाद् मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि षष्टिः ॥५१॥

तदेवं गतिमाश्रित्योक्तम् । सम्प्रति इन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते—

इग विगलिंदिय सगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्केक्कारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥ ५२ ॥

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपि इमान्येव पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि । पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते—"पण छक्केक्कारुदय" त्ति एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च षड् एकादश उदयस्थानानि । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च; एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वेदितव्यानि ; विकलेन्द्रियाणां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् ; एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि । पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशतः त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियसत्कान्युदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

१ मुद्रि० छा० ०दानि बन्धस्थानानि वक्त० ॥

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"पण पण बारस य संताणि" त्ति एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि। तत्रैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि, तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि।

तदेवं सामान्यतो बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। सम्प्रति संवेध उच्यते—एकेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये त्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम् १२०। विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, शेषेषु तु चतुर्षूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम् १३०। पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भावनीयानि। अत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च अनन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि, शेषेषु तूदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः सत्तास्थानानि। पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। इहैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि। पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकमष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि। एवं षड्विंशतिबन्धकानामपि। अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि। एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। त्रिंशदुदये चत्वारि—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो मनुष्यस्यावसेया, शेषाणि पुनः सामान्यतस्तिरश्चो मनुष्यान् वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि। एकत्रिंशदुदये त्रीणि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम-

१ ग० १ त० म० °दयस्थाने ष्व० ॥ २ स० १ त० म० °न्यतिर० । छा० °न्येव तिर० ॥ ३ सं० १ त० म० °श्चनेऽपि त्रो० ॥

वसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य मत एकत्रिंशदुदयाभावात्। षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीतिसम्भवात्। अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः १९। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवाष्टावुदयस्थानानि। तत्रैकविंशत्युदये पड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि। तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः त्रिनवतिः एकोननवतिः। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि, देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु[1] एतान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि। एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः त्रिनवतिः एकोननवतिश्च। सर्वाङ्कस्थापना—२१/७ २४/४ २६/७ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव च प्रत्येकं सत्तास्थानानि। केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति-अष्टाशीति-षडशीति-अशीति अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदितव्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम्, तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात्। देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति। त्रिनवति एकोननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये। पड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिनवति-एकोननवती। पड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वाऽपर्याप्तावस्थायाम्, न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया[2] वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति-एकोननवती न प्राप्येते, शेषं तथैव। सर्वाङ्कस्थापना—२१/५ २४/४ २५/५ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोदयसत्तास्थानसंवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः[3]। तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ॥५२॥

इय कम्मपगइठाणाइं सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं।
गइआइएहिं अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः,

---

१ छा० मुद्रि० ०षु तान्ये० ॥ २ स० स० २ मुद्रि० ०याक्षिश० ॥ ३ सं० १ त० म० ०व्य.। सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशे द्वे शते २३०। तदे० ॥

[1]गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥
(पञ्चसं० गा० २१ जीवसमा० गा० १६)

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैः 'अट्ठसु' अनुयोगद्वारेषु

[2]संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पाबहुं चेव ॥ (आव० नि० गा० १३)

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि । तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तः, विशेषतस्तु गतिरिन्द्रियाणि चाश्रित्य, एतदनुसारेण काय-योगादिष्वपि मार्गणास्थानेषु वक्तव्यः ।

शेषाणि तु द्रव्यप्रमाणादीनि रूपानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि, ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न सम्प्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते । यस्त्वैदंयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगत्यन्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनावश्यं दर्शयितव्यानि, प्रज्ञान्मेषो हि सतामद्यापि तीव्र-तीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजयमानो लक्ष्यते । अपि चान्यदपि यत् किञ्चिदिह क्षूणमापतित तत् तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यम् । सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति ।

कथं पुनरष्टस्वप्यनुयोगद्वारेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि ज्ञातव्यानि ? इत्यत आह— 'चतुःप्रकारेण' प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशरूपेण । तत्र प्रकृतिगतानि बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि प्राय उक्तानि, एतदनुसारेण स्थिति-अनुभाग-प्रदेशगतान्यपि भावनीयानि । इह बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, उदये सत्यवश्यं उदीरणाया अपि भावात् ॥५३॥

तथा चाह—

उदयस्सुदीरणाए, सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
[3]मोत्तूण य[4] इगुयालं, सेसाण सव्व[5]पगईण ॥ ५४ ॥

इह कालप्राप्तानां कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदयः, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहिःस्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयप्राप्तैः कर्मपरमाणुभिः सहा-

---

१ गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च । संयमे दर्शने लेश्यायां भवे सम्यक्त्वे संज्ञि आहारे ॥
२ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाण च क्षेत्रस्पर्शना च । कालश्च अन्तरं भाग भाव अल्पबहुत्वं चैव ॥
३ छा० मुद्रि० ०च्यते ॥ ४ स० १ त० म० छा० मुत्तूण ॥ ५ स० स० १ स० २ य ईया० ॥ ६ स० १ त० म० छा० ०पयडीणं ॥

नुभवनमुदीरणा, अनयोरुदय-उदीरणयोः 'स्वामित्वात्' स्वामित्वमधिकृत्य विशेषो न विद्यते । एतदुक्तं भवति–य एव ज्ञानावरणादीनां कर्मणामुदयस्वामी स एव तेषां कर्मणामुदीरणाया अपि स्वामी, "[1]जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ ।" इतिवचनप्रामाण्यात् ।

तत्रातिप्रसक्तं लक्षणमित्यपवादमाह–"[2]मोत्तूण य" इत्यादि । 'मुक्त्वा एकचत्वारिंशतं' एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामुदय-उदीरणयोः स्वामिनं प्रति न विशेषः ॥ ५४ ॥

एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्निर्दिशति–

नाणंतरायदसगं, दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउ[3]गाणि नवनाम उच्चं च ॥ ५५ ॥

एतासामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदीरणामन्तरेणाप्युदयो भवति । तथाहि--पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां ५ पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां १० चतसृणां च चक्षुः-अचक्षुः-अवधि केवलदर्शनाव[4]रणरूपाणां दर्शनावरणप्रकृतीनामुदय उदीरणा च सर्वजीवानां युगपत् तावत् प्रवर्तेते यावत् क्षीणमोहगुणस्थानकाद्धाया आवलिकाशेषो न भवति १४, आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदय एव नोदीरणा, आवलिकागतस्योदीरणानर्हत्वात् । निद्रापञ्चकस्य शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरसमयाद् आरभ्य यावद् इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिर्नोपजायते तावद् उदय एव नोदीरणा, शेषकालं तूदय-उदीरणे युगपत् प्रवर्तेते युगपच्च निवर्तेते १५ । द्वयोर्वेदनीययोः पुनः प्रमत्तगुणस्थानकं यावद् उदय उदीरणा च युगपत् प्रवर्तेते, परतस्तूदय एव नोदीरणा २१ । तथा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां मिथ्यात्वस्योदय एव नोदीरणा २२ । तथा वेदकसम्यग्दृष्टिना [5]क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयता मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपितयोः सम्यक्त्व सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं कृतम्, तत उदय-उदीरणाभ्यामनुभूयमानमनुभूयमानमावलिकाशेषं यदा भवति तदा सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा, अथवा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य अन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा २३ । संज्वलनलोभस्य उदय उदीरणा च युगपत् तावत् प्रवर्तेते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया आवलिका[6] शेषा, तत आवलिकामात्रं कालमुदय एव नोदीरणा २४ । तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमेन तेन तेन वेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्यान्तरकरणे कृते तस्य तस्य वेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा २७ । चतुर्णामप्या-

---

१ यत्र उदयस्तत्र उदीरणा, यत्र उदीरणा तत्र उदयः ॥ २ सं० १ त० म० छा० मुत्तूण ॥ ३ स १ त० म० ०उयाणि ॥ ४ सं० स २ ०रणप्रकृती० ॥ ५ स० सं० १ म० ०नमावलि० ॥ ६ स १ स २ त० म० ०काशेष. ॥

युषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव नोदीरणा, अन्यच्च मनुष्यायुषः प्रमत्तगुणस्थानका-दूर्ध्वमुदीरणा न भवति किन्तूदय एव केवलः ३१ । तथा मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-बादर-पर्याप्त-सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकररूपाणां [2]नवनामप्रकृतीनां ४० उच्चैर्गोत्रस्य च ४१ सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावद् युगपद् उदय-उदीरणे, अयोग्यवस्थायां तूदय एव नोदीरणा ॥५५॥

सम्प्रति कस्मिन् गुणस्थानके काः प्रकृतीर्बध्नाति ? इति बन्धविशेषनिरूपणार्थमाह—

तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥

इह बन्धे प्रकृतीनां विंशं शतमधिक्रियते, एतच्च प्रागेव प्रकृतिवर्णनायामुक्तम् । तत्र 'मिथ्यात्ववेदकः' मिथ्यादृष्टिः 'तीर्थकरा ऽऽहारकरहिताः' तीर्थकरा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गो-पाङ्गवर्जाः शेषाः सर्वा अपि प्रकृतीः सप्तदशोत्तरशतसङ्ख्याः 'अर्जयति' बध्नाति, तीर्थकरा-ऽऽहारकद्विके तु न तस्य बन्धमायातः, तयोर्यथासङ्ख्यं सम्यक्त्व-संयमप्रत्ययत्वात् । तथा 'सासाद-नोऽपि' सासादनसम्यग्दृष्टिरपि 'एकोनविंशतिशेषाः' एकोनविंशतिवर्जाः शेषा एकोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतीर्बध्नाति । तत्र तिस्रः प्रकृतयः प्रागुक्तन्य एव, तासां बन्धाभावे कारणमिहापि तदेवानु-सरणीयम्; शेषास्तु षोडश प्रकृतय इमाः—मिथ्यात्वं नपुंसकवेदः नरकगतिः नरकानुपूर्वी नरकायुः एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् आतपनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तकनामेति । एता हि मिथ्यात्वोदयनिमित्ताः, न च मिथ्यात्वो-दयः सासादने विद्यते इत्येता अपि सासादनस्य न बन्धमायान्ति ॥५६॥

छायालसेस मीसो, अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण देसविरओ, विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥

'मिश्रः' सम्यग्मिथ्यादृष्टिः 'षट्चत्वारिंशच्छेषाः' षट्चत्वारिंशद्वर्जाः चतुःसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृ-तीर्बध्नाति । तत्रैकोनविंशतिप्रकृतयो बन्धायोग्याः प्रागुक्तन्य एव, शेषास्त्विमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं स्त्रीवेदः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तिर्यगायुः प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संस्थानानि प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संहननानि उद्योतम् अप्रशस्तविहायोगतिः दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयं नीचैर्गोत्रमिति । एताः पञ्चविंशतिप्रकृतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्ताः, न च

१ इत ऊर्ध्वम्—मणुयगइजाइतसबादरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं । जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया ॥ इत्येषा गाथा सूत्र ।। यातयोपात्ता मुद्रितादर्शे एव विद्यते न च समस्तार्थवर्तिषु सप्तसादर्शेष्वपि न दृताऽस्माभिरत्र ॥ २ स० १ त० म० छा० नवानां नामप्र० ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनामुदयोऽस्ति, ततो न बन्धमायान्ति । अन्यच्च सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि नारभते, ततो मनुष्य-देवायुषी अपि न बन्धमायात इति षट्चत्वारिंशदप्येताः प्रतिषिध्यन्ते । तथा अविरतसम्यग्दृष्टिस्त्रिचत्वारिंशद्वर्जाः शेषाः सप्तसप्ततिप्रकृतीर्बध्नाति । अविरतसम्यग्दृष्टिर्हि मनुष्य देवायुषी अपि बध्नाति तीर्थकरनाम च, ततः शेषा एव त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो वर्ज्यन्ते । तथा देशविरतः 'त्रिपञ्चाशच्छेषाः' त्रिपञ्चाशद्वर्जाः शेषाः सप्तषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव, शेषाः पुनरिमाः—अप्रत्याख्यानचतुष्टयं मनुष्यगतिः मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायुः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहननम्, एता हि दश प्रकृतयोऽविरतिहेतवः इति न देशविरते बन्धमागच्छन्ति । तथा 'विरतः' प्रमत्तसंयतः 'सप्तपञ्चाशच्छेषाः' सप्तपञ्चाशद्वर्जाः शेषास्त्रिषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिपञ्चाशद् बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव शेषास्तु चतस्रः प्रकृतयः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभरूपाः । एता हि देशविरत एव, बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिन्नाः ॥५७॥

सम्प्रति प्रतिषेद्धव्याः प्रकृतयो बह्व्यो बन्धयोग्यास्तु स्तोका इति बन्धयोग्या एव निर्दिशति-

इगुसट्ठिमप्पमत्तो, बंधइ देवाउयस्स इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो, छप्पण्ण वा वि छव्वीसं ॥ ५८ ॥

'अप्रमत्तः' अप्रमत्तसंयत एकोनषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च प्रमत्तसंयतस्य बन्धयोग्यास्त्रिषष्टिप्रकृतयोऽसातवेदनीया-ऽरति-शोका ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिवर्जा आहारकद्विकसहिता वेदितव्याः, असातवेदनीयादयो हि षट् प्रकृतयः प्रमत्तसंयतगुणस्थानक एव बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिन्नाः, आहारकद्विकं चाप्रमत्तो विशिष्टसंयमभावाद् बध्नाति, तत एकोनषष्टिप्रकृतयोऽप्रमत्तस्य बन्धयोग्याः । "देवाउयस्स इयरो वि" त्ति 'इतरोऽपि' अप्रमत्तोऽपि देवायुषो बन्धकः । एतेनैतत् सूच्यते—प्रमत्तसंयत एवायुर्बन्धं प्रथमत आरभते, आरभ्य च कश्चिदप्रमत्तभावमपि गच्छति, तत एवमप्रमत्तसंयतोऽपि देवायुषो बन्धको भवति, न पुनरप्रमत्तसंयत[2] एव सन् प्रथमत आयुर्बन्धमारभत इति । तथा 'अपूर्वः' अपूर्वकरणोऽष्टपञ्चाशत् प्रकृतीर्बध्नाति, तस्य देवायुर्बन्धाभावात् । ताश्चाष्टपञ्चाशत् प्रकृतीस्तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाः सप्तमो[1] भागो गतो भवति । ततो निद्रा-प्रचलयोरपि बन्धव्यवच्छेदात् षट्पञ्चाशत्प्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावदपूर्वकरणाद्धाया एकः सप्तमो[1] भागोऽवशिष्यते । ततो देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा--ऽऽहारकशरीरा--ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग--तैजस-कार्मण -समचतुरस्रसंस्थान-वर्ण रस-गन्ध स्पर्शा-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगति-त्रस--बादर-

---

१ मुद्रि० बद्धा म० ॥ २ स० १ त० म० ०त एवायुर्बन्ध प्रथमत आर० ॥

पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकररूपाणां त्रिंशत्प्रकृतीनां वन्धव्यवच्छेदात् शेषाः षड्विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति ता अपि तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमयः, तस्मिंश्च समये हास्य-रति-भय-जुगुप्सा बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यन्ते ॥ ५८ ॥ ततः---

बावीसा एगूण, बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी ।

सत्तर सुहुमसरागो, सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

'अनिवृत्तिः' अनिवृत्तिबादरो द्वाविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, ततः 'एकोनम्' एकैकप्रकृत्यूनं बध्नाति तावद् यावदष्टादशान्तम् । एतदुक्तं भवति— तस्मिम् सङ्ख्येयतमे भागे शेषे पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदात् शेषा एकविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः शिष्यते ततः संज्वलनक्रोधस्यापि बन्धव्यवच्छेदाद् विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते; ततः संज्वलनमानस्यापि बन्धव्यवच्छेदादेकोनविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, ततः संज्वलनमायाया अपि बन्धव्यवच्छेदादष्टादशप्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाश्चरमसमयः, तस्मिंश्च समये संज्वलनलोभोऽपि बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यते । ततः सूक्ष्मसम्परायः शेषाः सप्तदश प्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमयः;[1] तस्मिंश्च समये ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्ररूपाः[2] षोडश प्रकृतयो बन्धमधिकृत्य व्यवच्छिद्यन्ते । ततः "सायममोहो सजोगि" त्ति 'अमोहः' मोहनीयोदयरहितः सातमेवैकं बध्नाति, स च तावद् यावत् 'सयोगी' सयोग्यवस्थाचरमसमय इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति— उपशान्तमोहः क्षीणमोहः सयोगकेवली च सातमेकं बध्नाति । अयोगिकेवली त्वेकस्यापि बन्धहेतोरभावाद् न किमपि बध्नातीति ॥५९॥

एसो उ बंधसामित्त[3]ओघो गइयाइएसु वि तहेव ।

ओहाओ साहिज्जा, जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

योऽयमनन्तरं प्राग् मिथ्यादृष्ट्यादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु बन्धभेद उक्त एष बन्धस्वामित्वौघ उच्यते । अस्माद् 'ओघात्' ओघभणितप्रकाराद् 'गत्यादिष्वपि' चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'यत्र' मार्गणास्थाने 'यथा' येन प्रकारेण भवप्रत्ययादिना प्रकृतिसद्भावो घटते तत्र तथा 'साधयेत्' कथयेत्, यथैताः प्रकृतयोऽस्मिन् मार्गणास्थाने बन्धं प्रतीत्य घटन्त इति ॥६०॥

---

१ सं० १ त० म० °श्चरमसम° ॥ २ सं० १ त० म० °रणान्तरायप° ॥ ३ म० छा० °त्तओहु ग° ॥

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतयः सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते ? किं वा न ? इति संशये सति तदपनोदार्थमाह–

तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ, हवंति सव्वासु वि गईसु ॥६१॥

तीर्थकरनाम देवायुर्नरकायुश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम् । तथाहि–तीर्थकरनाम नरक-देव मनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत् प्राप्यते, न तिर्यग्गतावपि, तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यक्षूत्पादाभावात् ; तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धासम्भवात् , तथाभवस्वाभाव्यात् । तथा तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु च देवायुः, न नरकगतौ, नैरयिकाणां देवायुर्बन्धासम्भवात् । तिर्यङ्-मनुष्य-नरकगतिषु च नरकायुः, न देवगतौ, देवानां नरकायुर्बन्धासम्भवात् । शेषाः प्रकृतयः सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते । ६१॥

इह गुणस्थानकेषु प्राग् बन्ध-उदय सत्तास्थानसंवेध उक्तः, गुणस्थानकानि च प्राय उपशमश्रेणिगतानि क्षपकश्रेणिगतानि च, ततोऽवश्यमिहोपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी वक्तव्ये, तत्र प्रथमत उपशमश्रेणिप्रतिपादनार्थमाह—

पढमकसायचउक्कं, दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ, जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥६२॥

'प्रथमकषायाः' अनन्तानुबन्धिनः 'दर्शनत्रिकं' मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूपम् , एताः 'सप्तका अपि' सप्तापि प्रकृतय उपशान्ताः 'अविरतसम्यक्त्वात्' अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानकादारभ्य यावद् 'निवृत्तिः' अपूर्वकरणगुणस्थानं तावद् ज्ञातव्याः । अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽपूर्वकरणेषु यथायोगमेताः सप्तापि प्रकृतय उपशान्ता लभ्यन्ते । अपूर्वकरणवर्जाः शेषा यथायोगमुपशमकाः, अपूर्वकरणे त्वेता नियमत उपशान्ता 'एव' प्राप्यन्ते ।

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते–अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-विरतानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याऽन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमपि अन्तमुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः । अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं

१ सं १ त० म० ०व लभ्यन्ते ॥

सन्तं चतुःस्थानकम् । स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसङ्ख्येयभागहीनं करोति ।

इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि-प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा--यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं च, चतुर्थी तूपशान्ताद्धा ।

तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् । प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षयाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना चेयम्— तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भवति । ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यस्थानाद् निवृत्तस्तस्योपरितनी जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशोधिस्थानम् । तत उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावत् चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् ।

तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा, ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमयं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । स्थापना—

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रथमसमये एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्गुणसङ्क्रमोऽन्यश्च स्थितिबन्ध इति पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते।

तत्र स्थितिघातो नाम—स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागाद् उत्कर्षतः प्रभूतसागरोपमशतप्रमाणं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति-खण्डयतीत्यर्थः, उत्कीर्य च याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र तद् दलिकं प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते। ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति, पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति। एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति। तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम्।

रसघातो नाम-अशुभप्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन[१] विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राग्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, [*]ततः पुनरपि तस्य प्राग्मुक्तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति। [*]एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति। तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति। तद्यथा-प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीये समयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः। तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम्। एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः। एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः। अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् ज्ञेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः। अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे शेषे भवति, उपरि च न वर्धते।

१ स० १ त० छा० म० ०पमास०॥ २ स० १ त० म० ०पमास०॥ ३ स० १ त० म० ०हूर्तेनैव का०॥ ४ सं० स० १ मुद्रि० ०न अशेषानपि विना०॥ ५ फुल्लिकाद्वयान्तवर्ती पाठः छा० मुद्रि० प्रत्योरेव दृश्यते, नान्यासु प्रतिषु॥ ६ स० १ त० छा० ०पः शेषे भव०॥

गुणसङ्क्रमो नाम–अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां दलिकं यत् परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं चतुर्थसमयादिष्वपि वक्तव्यम्।

अन्यः स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्ध आरभ्यते। स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ च युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यातः। एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते।

अनिवृत्तिकरणं नाम–यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम्। तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषा[1]मप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि च ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः। अत एवास्मिन्[2] करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिः-व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिवृ[3]त्तिरिति नाम। अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि। एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि— [मुक्तावली-आकृतिः] अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु[4] सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तमुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तमुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्कं[5] दलिकमुत्कीर्यमाणं परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगतं च दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते। तद्यथा–प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तमु[5]हूर्तम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति। उपशमिता नाम–यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादि[6]भिर्निकुट्टितो निःस्यन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघ[7]णनिकुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-निधत्ति-निकाचनाकरणानामयोग्यो भवति।

---

१ सं० १ त० म० ०षामकेरू० ॥ २ सं० १ त० ०न् प्रविष्टा० ॥ ३ सं० छा० मुद्रि० ०वृत्तिकरणमिति नाम ॥ ४ सं० १त० म० ०षु एक० ॥ ५ सं० छा० मुद्रि ०हूर्त्तं कालम्, एता० ॥ ६ सं० १ त० छा० म० ०भिर्नि कुट्टि० ॥ ७ सं० १ त० छा० म० ०णनि कुट्टि० ॥ ८ छा० मुद्रि० ०वत्तनि० ॥

तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता। अन्ये त्वाचक्षते-अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव। विसंयोजना क्षपणा, सा चैवम्-

इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरताश्चतुर्गतिका [1]अपि वेदकसम्यग्दृष्टयो देशवि[2]रतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ता अनन्तानुबन्धिनां क्षपणार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता च सर्वाऽपि प्रागिव निरवशेषा वेदितव्या। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति। उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**-

[3]चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा॥ (गा० ३४३)

किन्तु **कर्मप्रकृत्य**भिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषान् अनन्तानुबन्धिनो विनाशयति। आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति। ततोऽनन्तरमन्तमुहूर्तात् परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्मणां स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणयो न भवन्ति किन्तु स्वभावस्थ एव स जीवो जायते।

तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना, सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते-तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च। सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव। तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः। सा चैवम्-पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तमु[4]हूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धया प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षया अनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायां उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तदेव तावद् वक्तव्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या। ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तमुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तमुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन

---

१ स० १ त० म० अपि अविरतसम्य० ॥ २ सं० १ त० म० ०रताश्च तिर्य० ॥ ३ चतुर्गतिकाः पर्याप्तास्त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति। करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणमुपशमो वा॥ ४ स० १ त० म० ०हुत्तंकालं ॥

अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षि[1]पति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलि[2]काशेषो न भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

[3]चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिईयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तं जहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। इति।

ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च—

[4]मिच्छत्तुदए झीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
लंभेण जस्स[5] लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (कर्मप्र० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

[6]सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेद प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

[7]सम्मत्तेण समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७६०)

ततो देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक-

---

१ स २ ०पति सा आगाल इति। उदीरणैव पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय०। छा० मुद्रि० ०पति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय०॥ २ सं० १ त० छा० ०काशेषा न॥ ३ चरमसमयमिथ्यादृष्टिः एष्यत्काले उपशमसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागं करोति, तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च॥ ४ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः। लाभेन यस्य लभते आत्महितमलब्धपूर्वं यत्॥ ५ सं० १ त० म० मुद्रि० ०स्स लंभइ॥ ६ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात्॥ ७ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्येत॥

सम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च कर[१]णत्रिकविधिः पूर्ववत् तावद् वक्तव्यो यावदनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु अन्तरकरणं करोति, अन्तरकरणं च कुर्वन् सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमन्तर्मुहूर्तप्रमाणां स्थापयति, मिथ्यात्व-मिश्रयोश्चावलिका[२]मात्राम्, उत्कीर्यमाणं च दलिकं त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति, मिथ्यात्व मिश्रयोः प्रथमस्थितिदलिकं सम्यक्त्वस्य प्रथम[३]स्थितिदलिकमध्ये स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, सम्यक्त्वस्य पुनः प्रथमस्थितौ विपाकानुभवतः क्रमेण क्षीणायां सत्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । उपरितनदलिकस्य चोपशमना त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनामनन्तानुबन्धिनामुपरितनदलिकस्येवावसेया । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, करणानां च स्वरूपं प्राग्वदवगन्तव्यम्, केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिक[४]रणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्र चापूर्वकरणे स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते, नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः [५]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । अस्मिन्नन्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया--ऽगुरुलघु--उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक प्रशस्तविहायोगति-स्थिर--शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदो हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयः सर्वकर्मणां च देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणानि व्यवच्छिद्यन्ते । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति । अत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंश[६]तेर्मोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा । अन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणां प्र[७]थमा स्थितिरावलिकामात्रा । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां

---

१ सं० १ त० म० ०णत्रितयवि० ॥२ सं० म० ०मात्र उत्की० । सं० १ ०मात्रा उदीरणां उत्की० ॥३ सं० १ त० म० ०स्थितिमध्ये० ॥४ छा० ०रण चानिवृत्तिबादरगुण० ॥५ सं० १ त० म० सङ्ख्येयतमा भा० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०शतिमोह० ॥७ सं० १ त० छा० म० ०थमस्थि० ॥

त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततोऽपि संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः।

उक्तं च—

[1]थीअपुमोदयकाला, संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स।
[2]तत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहकमसो॥ (पञ्चसं० ७८३)

तत्र संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः। सञ्ज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदयः। संज्वलनमायया चोपशमश्रेणि प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमायाया उदयः। संज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदयः। तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया सममधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्डं घातयति यद्वाऽन्यं स्थितिबन्धं करोति ता[3]वता कालेन अन्तरकरणमपि करोति। त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव च निष्ठां नयति। तच्चान्तरं प्रथमस्थितेः सङ्ख्येयगुणम्। अन्तकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्—येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य। येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य। येषां पुनरुदयो न विद्यते किन्तु केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं [4]द्वितीयस्थितावेव क्षिपति न प्रथमस्थितौ, यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसञ्ज्वलनानाम्। येषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम्। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत् ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना **कर्मप्र[5]कृतिटीका** निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमुपशमयति। तं चैवम्—

---

१ स्त्रीनपुंसकवेदकालात सङ्ख्येयगुणस्तु पुरुषवेदस्य। तस्मादपि विशेषाधिक क्रोधस्तस्मादपि यथाक्रमशः॥ २ सं० स० २ छा० मद्रि० तस्स वि विसे०॥ ३ सं० १ त० म० ०वत्काले०॥ ४ त० ०कं परप्रकृतिषु॥ ५ छा० मद्रि० ०कृतिसङ्ग्रहणीटी०॥

प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणं तावद् उपशमयति यावत् चरमसमयः; परकृतिषु[1] प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया तावद् असङ्ख्येयगुणं प्रक्षिपति यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये पुनरुपशम्यमानं दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणदलिकापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणं द्रष्टव्यम् । तदेवं नपुंसकवेद उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्तेऽष्टौ कर्माण्युपशान्तानि जातानि । तत उक्तप्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते नव । ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन हास्यादिषट्कमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते पञ्चदश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तस्मिन्नेव[2] च समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः प्रथमस्थितिव्यवच्छेदश्च । प्रथमस्थितौ च द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूप आगालो न भवति । तस्मादेव[3] च समयादारभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं न पुरुषवेदे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनक्रोधादिषु, "[4]दुसु आवलियासु पढमठिईएँ सेसासु वि य वेओ" ॥ (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । हास्यादिषट्कोपशमनानन्तरं च समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन पुरुषवेदं सकलमप्युपशमयति । तं चैवम्—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् समयद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः; परप्रकृतिषु च प्रतिसमयं समयद्वयोनावलिकाद्विककालं यावद् यथाप्रवृत्तसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, परं प्रथमसमये प्रभूतम्, द्वितीयसमये विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमयः । पुरुषवेदे चोपशान्ते षोडश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । ततो यस्मिन् समये हास्यादिषट्कमुपशान्तम् पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितिः क्षीणा ततः समयादनन्तरमप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधान् युगपदुपशमयितुमारभते । संज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमानादौ, "[5]तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ संजलणा ।" (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । द्व्यावलिकाशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला । साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलिकाशेषो भवति । आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च क्रोधावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरष्टादश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तदानीं च संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां

१ छा० मुद्रि० ० पु च प्रति० ॥ २ सं० २ छा० ०व चरमस० ॥ ३ सं० १ त० छा० म० ०व चरमसया० ॥ ४ द्वयोरावलिकयोः प्रथमस्थितौ शेषयोरपि च वेदः ॥ ५ तिसृष्वावलिकासु समयोनासु अपतद्ग्रहास्तु संज्वलनाः ॥

प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां संज्वलनमाने स्तिबुकसङ्क्रमेण प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन[1] संज्वलनक्रोध उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते एकोनविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेद[2]यते च[3]। तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति, द्वितीयस्थितौ असङ्ख्येयगुणम्, [4]ततोऽपि तृतीयस्थितावसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् प्रथमस्थितेश्चरमसमयः। प्रथमस्थितिकरणप्रथमसमयादेव चारभ्य त्रीनप्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनरूपान् मानान् युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानदलिकं न संज्वलनमाने प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमायादौ। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते, तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिका[5] शेषा भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च मानावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरेकविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमान उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते द्वाविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमायाया द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च, तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायादलिकं न संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनलोभे। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला। साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलि[6]काशेषो भवति। आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणे च माये उपशान्ते, तयोश्चोपशान्तयोश्चतुर्विंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० म० ०न क्रो० ॥ २ सं० छा० मुद्रि० ०यति ॥ ३ सं० १ च। प्रथमस्थितिकरण० ॥ ४ त० म० ततस्तृ० ॥ ५ सं० २ त० म० ०काशेषो भव०। सं० १ ०काशेषो न भव० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०काशेषा न भव० ॥

मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनलोभे सङ्क्रमयति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमाया उपशान्ता, तस्यां चोपशान्तायां पञ्चविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य लोभवेदकाद्धात्रिभागद्वयप्रमाणां प्रथमस्थितिं पूर्वोक्तप्रकारेण करोति वेदयते च। प्रथमश्च[1] त्रिभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः, द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः। प्रथमे चाश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे त्रिभागे वर्तमानः पूर्वस्पर्धकेभ्यो दलिकमादायापूर्वस्पर्धकानि करोति।

अथ किमिदं स्पर्धकम्? इति उच्यते—इह तावदनन्तानन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति। तत्र चैकैकस्मिन् स्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुस्तस्यापि रसः केवलिप्रज्ञया च्छिद्यमानः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तान[2]प्येकाधि[3]कान्, अन्यस्तु द्व्यधिकान्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्यः परमाणुः सिद्धानन्तभागाधिकान् रसाविभागान् प्रयच्छति। तत्र जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषां समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्युच्यते। अन्येषां त्वेकाधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः। एतासां च समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवोत्तरो[4]त्तरवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा।

इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसाविभागैः, ततस्तेनैव क्रमेण ततः प्रभृति द्वितीयं स्पर्धकमभिधानीयम्, एवमेव च तृतीयम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनन्तानि स्पर्धकानि भवन्ति। एतानि च पूर्वं कृतत्वात् पूर्वस्पर्धकान्यभिधीयन्ते। तत एतेभ्य इदानीं प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य अपूर्वाणि स्पर्धकानि करोति। आसंसारं हि परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्यैवंरूपाणि स्पर्धकानि कृतानि, किन्तु सम्प्रत्येव विशुद्धिप्रकर्षवशात् करोति, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते।

अश्वकर्णकरणाद्धायां च गतायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति। तत्र च पूर्वस्पर्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति। किट्टयो नाम पूर्वस्पर्धकाऽपूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यव-

१ सं० १ त० म० ०श्च त्रिभा०॥ २ छा० प्येकादिभागाधिकान्। एवमे०॥ ३ सं० १ सं० २ त० म० ०कान् एवमे०॥ ४ सं० १ त० म० ०त्तररसवृ०॥

स्थापनम्, यथा— [1]यासामनन्तानन्तानामप्यसत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरं द्व्युत्तरं वाऽऽसीत् १०१-१०२ तासामेवानुभागभागानां पञ्चकं पञ्चदशकं पञ्चविंशतिरिति । किट्टिकरणाद्धा[2]याश्चरमसमये युगपद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ भवतः । तत्समयमेव च संज्वलनलोभबन्धव्यवच्छेदो बादरसंज्वलनलोभोदय-उदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च । तदेवमनिवृत्तिबादरे सप्तभ्य आरभ्य पञ्चविंशतिं यावद् उप-[3]शान्तानि कर्माणि लभ्यन्ते । तथा चाह—

[4]सत्तऽट्ठ नव य पनरस, सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा ।
एगाहि दु चउवीसा, पणवीसा बायरे जाण ॥ सुगमा[5] ॥

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशान्तौ च सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तानि च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । आह च—

सत्तावीसं सुहुमे, अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ ।
उवसंतवीयरागे, उवसंता होंति नायव्वा ॥"

'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये सप्तविंशतिकर्माण्युप[6]शान्तानि लभ्यन्ते । सूक्ष्मसम्परायाद्धा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । सूक्ष्मसम्परायाद्धायां च प्रविष्टः सन् उपरितनस्थितेः सकाशात् कतिपयाः किट्टीः समाकृष्य प्रथमस्थितिं सूक्ष्मसम्परायाद्धातुल्यां करोति वेद[7]यति च । शेषं च सूक्ष्मकिट्टीकृतं दलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपशमयति । सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति । तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमये उपशान्तकषायो भवति । तस्मिंश्चोपशान्तकषाये वीतरागेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः ।

उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धाया समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित् पुनस्त-

१ स० सं० १ त० म० यासामेवासत्क० ॥ २ छा० मुद्रि० ०याश्च चर० ॥ ३ सं० १ त० म० ०शान्तकर्मा० ॥ ४ सप्ताष्ट नव च पञ्चदश षोडश अष्टादशैव एकविंशतिः । एकाधिकद्वौ चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिर्बादरे जानीहि ॥ ५ स १ त० म० ०मा ॥ अत्राप्रत्या० ॥ ६ स ० १ त० म० ०नि भवन्ति ॥ ७ [illegible] छा० मुद्रि० ०यते च ॥

तोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीत्येष विशेषः ।

उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि । उक्तं च चूर्णौ—

[1]जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि,
जो एक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा । इति ।

आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । तदुक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन् , भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ।। इति ।।६२।।

तदेवमुक्ता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । सम्प्रति[2] क्षपकश्रेणिमभिधातुकाम आह—

पढमकसायचउक्कं, [3]एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं ।
अविरय देसे विरए, पम[4]त्ति अपमत्ति खीयंति ।।६३।।

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानः । स च प्रथमतः 'प्रथमकषायचतुष्कम्' अनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति । तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता । ततः इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वानि क्षपयति । सूत्रे चैकवचनं समाहारविवक्षणात्, समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञापन[5]नार्था । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरमपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं गुणसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासङ्क्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा-प्र[6]थमस्थितिखण्डं बृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीयं विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनम्, एवं तावद् वाच्यं यावदपूर्वकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणप्रथमसमये च यत् स्थि[7]तिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघाता[8]दीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमना-निधत्ति-

---

१ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेद् वा ।। २ सं० छा० मुद्रि० ०ति श्रेणिप्रस्तावात् क्षप० ।। ३ स० १ त० म० इत्ते ।। ४ सं० स० २ छा० ०मते अपमत्ते खी० । स० १ त० म० ०मत्त अपमत्त खी० ।। ५ सं० १ त० म० छा० ०नार्थम्० ।। ६ त० म० ०थम स्थि० ।। ७ स० १ त० छा० म० ०तिकर्म ।। ८ स० १ त० ०दीनि स० ।।

निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म अनिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानं घात्यमानं स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति, ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम् , ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियसत्कर्मस्थितिसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्यो[1]पमासङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैकं सङ्ख्येयभागं मुक्त्वा शेषं सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य सङ्ख्येयभागस्यैकं सङ्ख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषं सर्वं विनाशयति । एवं स्थितिघाताः सहस्रशो व्रजन्ति । तदनन्तरं च मिथ्यात्वस्यासङ्ख्येयान भागान् खण्डयति, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सङ्ख्येयान् । तत एवं स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्रं जातम् , सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति, सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वसत्कानि त्वधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्रं स्तिबुकसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तरं सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोरसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते; ततस्तस्याप्यसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति; एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमप्यावलिकामात्रं जातम् । तदानीं सम्य[2]क्त्वस्य स्थितिसत्कर्म वर्षाष्टकप्रमाणं भवति । तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डं अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति, तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्, ततो द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावद् गुणश्रेणीशिरः । तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीनं विशेषहीनम् यावच्चरमा स्थितिः । एवमा[3]न्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति निक्षिपति च । तानि च तावद् यावद् द्विचरमं[4] स्थितिखण्डम् । द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाद् चरमखण्डं सङ्ख्येयगुणम् । चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रति त्वन्यतमस्यां गच्छति । तदेवं प्रस्था[5]पको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

---

१ स० स० २ छा० ०पमसंख्येय० ॥ २ स० १ त० म० ०क्त्वस्थिति० ॥ ३ सं० १ त० म० ०न्तर्मौहूर्तिका० ॥ ४ स० १ त० म० ०रमस्थिति० ॥ ५ सं० १ त० म० ०पको भूत्वा म० ॥

उक्तं च—

[1]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युपरमते, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च—

[2]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूयो न खीणम्मि ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणा[3] मइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१६–१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह—

[4] बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५)

[5]अथोच्येत–क्षीणसप्तको गत्यन्तरं सङ्क्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति ? उच्यते–तृतीये चतुर्थे वा भवे । तथाहि–यदि देवगतिं नरकगतिं वा सङ्क्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति । अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तर्हि सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, ततस्तद्भवानन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवात् च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्षं यातीति चतुर्थभवे मोक्षगमनम् । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

[6]तइय चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देवनिरयऽसंखाउचरिमदेहेसु ते होंति ॥ (गा० ७७६)

एतानि च सप्त कर्माणि क्षपय[7]न्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा, तत एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षयः प्राप्यते । तथा चाह सूत्रकृत्—"अवि[8]रय" इत्यादि । अविरते

---

१ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ २ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतः चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चाद् नानामतिगतिकः ॥ ॥ ३ स० १ त० म० ०णागइमईओ ॥ ४ बद्धायुः प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ५ छा० मुद्रि० ०थोच्यते–क्षी० ॥ ६ तृतीये चतुर्थे तस्मिन् वा भवे सिध्यन्ति दर्शने क्षीणे । यद् देव-निरयासङ्ख्यायु-चरमदेहेषु ते भवन्ति ॥ ७ छा० मुद्रि० ०यन्ति अ० ॥ ८ स० स० १ स० २ त० म० ०रइ" इ० ॥

'देशे' देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि 'क्षीयन्ते' क्षयमुपयान्ति।

यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते। यत आह भाष्यकृत्—

[1]इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलं सेढिं समाणेई ॥ (विशेषा० गा० १३२५)

चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च। एषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम्। नवरमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके। तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणा[2]द्धायाः प्रथमसमये तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिक-नरकगति-तिर्यग्गति-नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी-एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजाति-स्थावरा-ऽऽतप उद्योत-सूक्ष्म साधारणरूपाणां षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासङ्क्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता। ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसङ्क्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति। इहाप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं परं तद् नाद्यापि क्षीणम्, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकं क्षपितम् ततः पश्चात् तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति। तथा चाह—

अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ।
संखेज्जइमे सेसे, तप्पाओगाओ खीयंति ॥
एत्तो हणइ कसायट्ठगं पि

अनिवृत्तिबादरे गुणस्थानके सङ्ख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं 'नरय-तिर्यङ्नामनी' निरयगति-तिर्यग्गतिनाम्नी 'तत्प्रायोग्याश्च' निरयगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपाः सर्वसङ्ख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते। ततः 'इतः' प्रकृतिषो[3]डशकक्षयादनन्तरं निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति ॥

अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति। ततोऽन्तर्मुहू[4]र्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ २ सं० सं० २ ०द्धाप्रथ० ॥ ३ सं० १ त० छा० म० ०डशक्षया० ॥ ४ छा० ०र्तप्रमाणेन नवा० ॥

संज्वलनानामन्तरकरणं करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण[1] पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रं जातम् । ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण दलिकं प्रक्षिपति । तच्चैवं प्रक्षिप्य[2]माणमन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम्। अधस्तनदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं तद् भवति, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षप्यते । ततः षड् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे सङ्क्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे, तथा चाह सूत्रकृत्—

पच्छा नपुंसगं इत्थी ।
तो नोकसायछक्कं, छुभइ संजलणकोहम्मि ॥

कषायाष्टकक्षयानन्तरं पश्चात् , 'नपुंसकं' नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदम्, ततः षड् नोकषायान् क्षपयन् तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे "छुभइ" त्ति क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षड् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणाः क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमतः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते क्षपकश्रेणिं, तदा प्रथमतो नपुंसकवेदम् , ततः स्त्रीवेदम् , स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति ॥

सम्प्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते—क्रोधं वेदयमानस्य सतः तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणाद् उपरितनस्थितौ करोति । अस्यां चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः

१ सं० हूर्तेन पल्यो० । छा० ०हूर्त्तप्रमाणेन पल्यो० ॥ २ सं० सं० १ ०माण प्रक्षिप्यमाणमन्त० ॥

करोति। ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि [1]स्थूरजातिभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च। एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति । मायया चेत् प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोध-मानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति । यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति । एष किट्टीकरणविधिः । किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम-[2]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये द्वितीय-किट्टीदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[3]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिका-वलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम [4]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेषः । तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदना-द्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसङ्क्रमेणापि प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा अन्यद् नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[5] स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम् । क्रोध[6]स्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्व-सङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं [7]जातम् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थिति-गतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततो-ऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युग-पद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य, मायायां प्रक्षिप्त-त्वात् । ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम् । मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयो-नावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण मायायां प्रक्षिपति । मायाया अपि च प्रथमकिट्टि-

---

१ स १ त० म० स्थूलजा० ॥ २ त० छा० म० ०स्थितिगत क० ॥ ३-४-५ त० म० स्थितिगतं क० ॥ ६ सं० त० १ म० ०धस्य च ॥ ७ स १ त० म० ०व चरमस०।

दलिकं द्वितीयस्थिति[1]गतं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मायाया द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मायाया बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्याः समयोनावलिकाद्विक[2]बद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसङ्क्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। संज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्याः सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण लोभे सर्वं सङ्क्रमयति। लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं शेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिकं गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टीः करोति तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितिकृतस्य समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो, बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानककालव्यवच्छेदश्च युगपद् जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसम्पराय उच्यते। पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयतृतीयकिट्टिगताः शेषीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, प्रथम-द्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्वं द्वितीय-तृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसम्परायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं च प्रतिसमयं स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाः[3]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन्[4]सङ्ख्येयभागे संज्वलनलोभं सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासमं करोति। सा च सूक्ष्मसम्परायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा। ततः प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ताः, शेषकर्मणां तु प्रवर्तन्त एव। तां च लोभस्यापवर्तितां स्थितिमुदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता। तत उदयेनैव केवलेन[5] तां वेदयते यावत् चरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां षोडशकर्मणां बन्धव्यवच्छेदः मो[6]हनीयस्योदयसत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६३ ॥

१ सं० १ त० म० ०गतमाकृष्य प्रथ० ॥ २ सं० १ त० म० ०बद्धमेव, शेषस्य लोभे प्रक्षिप्तत्वात। ततो लोभ०॥ ३ सं० १त० म० ०ख्येयमा० ॥ ४ स सं० २ ख्येये भा० ॥ ५ स० १ त० म० ०न तावद् वेद० ॥ ६ सं० १ त० म० ०हनीयोदयस० ।

अमुमेवार्थं सङ्कलय्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या-'पुरुषं' पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' संज्वलनक्रोधे "[1]छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं 'माने' संज्वलनमाने सङ्क्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसङ्क्रमेण 'मायायां' संज्वलनमायायां प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां संज्वलनमायां 'लोभे' संज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेषमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते। तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः [2]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः [3]सङ्ख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम्। सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव। तानि च षोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता। तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः। तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः। तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंत[4]राए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति। स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति। न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति। उक्तं च—

[5]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं सव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

---

१ स० ४ स० २ म० त० छुभइ ॥ २ त १ स २ त० म० संख्येयभा० ॥ ३ सं १ त० म० संख्येयभा० ॥ ४ सं० स० १ ०राये छ० ॥ ५ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥

इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति। अन्यस्तु न करोत्येव। तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—

'सव्वे वि णं भंते! केवली समुग्घायं गच्छंति? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य।
भवोवग्गहकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ॥
अगंतूणं समुग्घायमणंता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया॥ (पत्र ६०१--१)

अत्र "बंधणेहिं" ति बध्यन्ते इति बन्धनाः—कर्मपरमाणवः, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध- हे० ५-१-३) इति वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्ययः तैः, शेषं सुगमम्।

गत्वा चागत्वा च समुद्घातं भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, [2]ततो बादरवाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्, ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगम्, ततः सूक्ष्मवाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमयः। त[3]स्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि[4] अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते, कर्मत्वमात्ररूपतां [5]त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमा[6]नाम्। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमयेऽन्यतरद्वेदनीयमौदारिक-तैजस-कार्मणशरी[7]रसंस्थानषट्क-प्रथमसंहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात[8]-उच्छ्वासशुभा-ऽशुभविहायोगति-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ[9]सुस्वर-दुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीर-

१ सर्वेऽपि भदन्त! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति? गौतम! नायमर्थः समर्थः। यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च। भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ता' केवलिनो जिनाः। जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः॥ २ स० सं० मुद्रि० ततो वाग्यो०॥ ३ स० १ त० छा० म० ऽस्मिंश्चरम०॥ ४ स० १ त० म० ०णि सयो॥ ५ स० १ त० म० ०चाश्रि०॥ ६ स० छा० ०नामेव स्थितिं करोति। तस्मिं० मुद्रि० नामेव। तस्मिं॥ ७ स० १ स० २ त० म० ०रसम्बद्धबन्धनसंघात-संस्था०॥ ८ स० १ त० म० ०त-शुभा०॥ ९ स० १ स० २त० म० ०भ-निर्मा०॥

णाव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भवस्थोऽजघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्तं कालं भवति । स च तस्यामवस्थायां वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति । एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः[1] ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, [2]दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति ।
सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

देवगत्या सह गताः-स्थिताः देवगतिसहगताः, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासां ता देवगतिसहगता इत्यर्थः । कास्ताः ? इति चेद् उच्यते—वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया-ऽऽहारकबन्धने वैक्रिया ऽऽहारकसङ्घाते वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च । एता देवगतिसहगताः 'द्विचरमसमयभवसिद्धिके' इति द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्रैव' द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'सविपाकेतरनामानि' विपाकः-उदयः, सह विपाकेन यानि वर्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नामप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्चेमाः—औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगती प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे सुस्वर-दुःस्वरे दुर्भगमनादेयम् यशःकीर्तिर्निर्माणमिति । तथा नीचैर्गोत्रम् , अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयम् । सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवे[3]यणीयं, मणुया[4]उय उच्चगोय नव नामे ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस ज[5]हन्न एक्कारं ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीयं' सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं 'नव नामानि' नव नामप्रकृतीः, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिनः' अयोगिकेवली । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६६ ॥

---

१ सं० १ त० म० ०य. ॥ ६४॥ तस्मिंश्च एताः प्रकृतयः क्षीयन्ते, तदाह—॥

२ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेषु तु—"दुचरमसमयभवियम्मि" इति मूल आदृत एव पाठः समस्ति, परं विवृतिकृद्भिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिः "दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि" इत्येतत्पदानुसारेण व्याख्यातमस्ति ॥ ३ म० ०यणिज्जं ॥ ४ सं० १ त० ०याउ उ० ॥ ५ म० ०हन्नमिक्कारे ॥

'नव 'नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभग[1]माइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यः 'भवसिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिनः "संतं सग" त्ति सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थंकरनामरहिता वेदितव्याः ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

मणुयगइसहगयाओ, भवखित्तविवा[2]गजीववाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गताः—स्थिता मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ताः ? इत्याह—"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाकाः क्षेत्रविपाका, जीवविपाकाश्च । तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयः "भविकस्य" भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये । [3]ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति । अन्ये पुनराहुः—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं[4] दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां[5] तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति । एतदेव मतमधिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तू[6]त्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभाव-

---

१ सं० १ त० म० नामा 'इ' ॥ २ स० स० २ छा० ०माएज्ज ॥
३ म० ०गजियविवागाओ ॥ ४ स० १ स० २ त० म० ०ममवसि० ॥ ५ सं० १ ०कं गृह्यत एवे० ॥ ६ सं०१ त० म० ०म्ना चतु० ॥ ७ सं० १ त० म० तूत्कृष्टतो ॥

विशेषाद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढ-स्तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति ।

उक्तं चावश्यकचूर्णौ—

[1]'जत्तिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ,
न वंकं, बीयं च समयं न फुसइ ।। (प्रथ० भा० पत्र ५८३) इति ।।

इत्थं चानेके भगवन्तः कर्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धिसुखं शाश्वतं कालमनु-भवन्तोऽवतिष्ठन्ते ।। ६९ ।।

तथा चाह—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं ।
अनिहणमव्वाबाहं, तिरयणसारं अणुहवंति ।। ७० ।।

'अथ' इत्यानन्तर्ये, कर्मक्षयादनन्तरं 'शुचिकं' एकान्तशुद्धम् , न रागादिदोषव्यामिश्रम् , तथा 'सकलं' संपूर्णम् , तथा 'जगच्छिखरं' सकलसांसारिकलोकसम्भविसुखनिकुरम्बशेखर-भूतम् , कथम् ? इति चेद् अत आह—'अरुजं' लेशतोऽपि तत्र व्याधेरभावात् , उपलक्षण-मेतत्, तत आधेरप्यभावस्तत्र द्रष्टव्यः, सांसारिकं च सुखमाधि-व्याधिसङ्कुलम् । तथा 'निरु-पमं' उपमातीतम्, नहि तत्सदृशं किञ्चिदपीह संसारेऽस्ति सुखं येन तदुपमीयते तस्माद् निरुपमम् । तथा "सहाव" त्ति स्वभावभूतम् , न संसारसुखमिव कृत्रिमम् , अतस्तत् सकल-देवा-ऽसुर-मनुजसम्भविसुखसमूहशेखरकल्पम् । इत्थम्भूतं 'सिद्धिसुखं' मोक्षसुखं 'अनिधनम्' अपर्यवसानम्, कथमपर्यवसानता ? इति चेद् अत आह—'अव्याबाधं' व्याबाधारहितम् बाधयितुमशक्यमिति भावः । तथाहि—रागादयस्तत् सुखं बाधयितुमीशाः, ते च सर्वात्मना क्षीणाः; न च क्षीणा अपि पुनः प्रादुर्भावमश्नुवते, तत्कारणकर्मपुद्गलानामभावात् ; न च तेऽपि पुद्गला भूयोऽपि बध्यन्ते, संक्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात् , न च सर्वात्मना रागादिक्ले-शविप्रमुक्तस्य भूयः संक्लेशोत्थानम्, तत्कारणकर्मपुद्गलाभावात् ; अतो रागादिसंक्लेशोत्थाना-भा[2]वात् सिद्धिसुखमव्याबाधम् । पुनः तत् कथम्भूतम् ? इत्याह—'त्रिरत्नसारं त्रीणि रत्नानि-सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रलक्षणानि तेषां सारं—फलम् । तथाहि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव कर्मक्षयकारणम् , कर्मक्षयाच्च सिद्धिसुखसम्प्राप्तिः, अतः सिद्धिसुखं त्रिरत्नसारम् । एतेन

१ यावति जीवोऽवगाढः तावत्या अवगाहनया ऊर्ध्वं ऋजुकं गच्छति न वक्रम्, द्वितीयं च समयं न स्पृशति ।। २ स० १ त० म० व्वादिति खि० ।।

किमुक्तं भवति ?—इत्थम्भूतं सिद्धिसुखमभिलषताऽवश्यं रत्नत्रये प्रेक्षावता यत्न आस्थेयः, उपायमन्तरेणोपेयसिद्ध्यसंभवात् । उपायभूतं च सिद्धिसुखस्य रत्नत्रयम्, कर्मक्षयकारणत्वात् । तथाहि—अज्ञानादिनिमित्तं कर्म, अज्ञानादिप्रतिपन्थि च ज्ञानादि, ततोऽवश्यं ज्ञानाद्यासेवायां कर्मक्षय इति । इत्थम्भूतं सिद्धिसुखं तत्र गताः सन्तः 'अनुभवन्ति' वेदयन्ते ॥ ७० ॥

इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तितः । सोऽपि सामान्येन, ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेषजिज्ञासायामतिदेशमाह—

दुरहिगम-निउण-परमत्थ-रुइर-बहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ७१ ॥

दुःखेन--महता कष्टेन प्रमाण-नय-निक्षेपादिभिरधिगम्यत इति दुरधिगमः, निपुणः-सूक्ष्मबुद्धिगम्यः, परमार्थः-यथावस्थितार्थः, रुचिरः[1] सूक्ष्मसूक्ष्मतरा[2]र्थभेत्तृपटुप्रज्ञानां मनःप्रह्लादकरः, बहुभङ्गः-बहुवि[3]कल्पो यो दृष्टिवादस्तस्माद् बन्धोदयसत्कर्मणां विषये 'अर्थाः' विशेषरूपाः 'अनुसर्तव्याः' ज्ञातव्याः । इह तु संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यन्ते ॥७१॥

सम्प्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वेनात्मनोऽल्पागमत्वं ख्यापयन् शेषबहुश्रुतानां च बहुमानं प्रकटयन् प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषये तेषां प्रार्थनां विदधान आह—

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति ।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊणं परिकहंतु ॥ ७२ ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे 'यत्र' बन्धे उदये सत्तायां वा योऽर्थः 'अपरिपूर्णः' खण्डः 'अल्पागमेन' अल्पश्रुतेन मया 'बद्धः' निबद्धः, इतिशब्दः समाप्तिवचनः, स च गाथापर्यन्ते वेदितव्यः । 'तम्' अपरिपूर्णमर्थं तत्र[4]बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं [5]क्षमित्वा 'बहुश्रुताः' दृष्टिवादज्ञाः 'पूरयित्वा' तत्तदर्थप्रतिपादिकां गाथां प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्यः 'परिकथयन्तु' सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु । बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञा[6]नसम्भारसम्पत्समन्विततया परोपकारकरणैकरसि[7]कमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणां च परमुपकारमाधित्सवस्तेऽवश्यं ममास्फुटापरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं विषह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्यः कथयन्तु ॥ ७२ ॥

---

१ सं० १ त० छा० ०र-सूक्ष्मतरा० ॥ २ सं० छा० ०रार्थ. तत्र पटु० । त० म० रार्थभेदपटु० ॥ ३ सं० सं० २ छा० ०कल्पो दृ० ॥ ४ सं० सं० २ छा० ०त्र तत्र बन्धा० ॥ ४ छा० क्षमयित्वा ॥ ६ सं० १ त० म० नसारसं० ॥ ७ सं० १ त० म० ०कमनसो म० ॥

निरुपममनन्तमनघं, शिवपदमधिरूढमपगतकलङ्कम् ।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिनं नमत परमशिवम् ॥
यस्योपान्तेऽपि सम्प्राप्ते, प्राप्यन्ते सम्पदोऽनघाः ।
नमस्तस्मै जिनेशश्रीवीरसिद्धान्तसिन्धवे ॥
यैरेषा विषमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक् ।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे ॥
प्रकरणमेतद् विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सिद्धाः मङ्गलं संयतानहम् ।
अश्रिश्रियं जिनाख्यातं धर्मं परममङ्गलम् ॥

ग्रन्थाग्रम्[1]–३८८०



1 सं० २ ग्रम् ३७८० ॥

❀ शुद्धिपत्रकम् ❀



पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	२१	सम्वन्ध	सम्बन्धो
१	२५	सर्वातिन्यश्चे०	सर्वघातिन्य श्चे०
२	२३	घातत्वं	घातित्वं
७	२६	यादव०	यावद०
८	६	सुःस्वरा०	दुःस्वरा०
१२	१०	नांमयसंव	नोमयसंते
१६	२६	विषयो	विषयो घातित्वे
१७	२	देवगति०-	देवानुपूर्वी-
१७	२०	नाराच०	नाराचा०
२०	७	जीन०	जिन०
२०	१३	०श्रतस्र	०श्रतस्रः
२०	२५	०दिनि	०दीनि०
२२	१८	गोत्र-	गोत्रा-
२४	२७	द्वावक्त०	द्वाववक्त०
३८	७	०क्रमाणां'	०क्रमाणां 'सत्या'
४३	२४	अबहा	अबाह
४५	१०	अशाः	१७ अशाः
४६	४	०त्वविरत०	०त्त्वविरत०
५०	२६	बध्नति	बध्नन्ति
५४	२	घम्यते	गम्यते
५३	३	०नादिनाम०	०नादीनाम०
५८	१६	०वृद्धनि	०वृद्धानि
५६	३	तत्रैततत्	तत्रैतत्
६१	२४	परिस्मन्द०	परिस्पन्द०
६७	३०	०भावा०	०भवा०
८७	२८	०घयणा०	सघयणा०
६८	१४	असावगाह.	असाववगाहः
१०६	६	संमपि	सर्वमपि
११०	२	प्रततरं	प्रभूततरं
१३६	१७	ययैतानि	यथैतानि
१४४	२२	०घर्मं	०धर्मं
१४६	२४	०मुत्कष्टं	०मुत्कृष्टं
१५०	२२	मिथ्यातव०	मिथ्यात्व०
१६३	१२	बधतो	बंधंतो
१९२	१२	०रहियस्य	०रहियस्स
२१३	४	त्रिंशद्रे	त्रिंशद्द
२२३	१२	षड्विंशत्दये	षड्विंशत्युदये
२२७	१४	०त्रोत्रं	०गोत्र
२३२	४	शुभाऽभे	शुभा-ऽशुभे
२३३	१६	शेषास्त्वेक-विंशति-सङ्ख्याश्चतुः-सत्तास्था-नकाः	वैक्रियवायुकायानां ये त्रयो भङ्गास्ते त्रिसत्ता-स्थानकाः, शेषास्त्वष्टा-दशभङ्गाश्चतुःसत्ता-स्थानकाः,
२३५	२३	०वन्धनामे०	०बन्धकानामे०
२३७	२०	ताति	तानि
२३७	२७	०सप्तप्तिश्च	सप्ततिश्च
२४२	१६	पर	परं
२५५	८	तद्यथा-	तद्यथा-पञ्च
२६५	१८	कीर्त्ति०	कीर्त्ति०
२७६	१४	प्रज्ञान्मे०	प्रज्ञोन्मे०
२७८	१४	शेपा	शेषा
२८१	१५	उवसता	उवसंता
२८४	२०	पद्य०	वेद्य०
२९०	२१	ग्रोति	करोति
२९७	२१	०मेलव	०लमेव
३०२	२०	यश.०	अयश ०

